भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321 - 5704

(प्रवेशांक : सितम्बर, 2013)

संरक्षक

कुलपति, प्रो. एन.एस. गजभिये

परामर्शदाता

कुलसचिव, श्री अनूप केशवदेव पुजारी

सम्पादक मण्डल

प्रो. दिनेश अत्रि

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

प्रो. चंदा बैन

श्री संतोष सोहगौरा

डॉ. ललित मोहन

श्री विवेक विसारिया

सम्पादक

डॉ. छबिल कुमार मेहेर

सहायक सम्पादक

अभिषेक सक्सेना

राजभाषा प्रकोष्ठ

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश) - 470003

दूरभाष : (07582) 265828

ई-मेल : hindicell@dhsgsu.ac.in

भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321 – 5704

प्रवेशांक

सितम्बर, 2013

© *राजभाषा प्रकोष्ठ, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर व लेखक*

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :

हिन्दी अधिकारी, राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.) - 470003

दूरभाष : (07582) 265828
ई-मेल : hindicell@dhsgsu.ac.in

मूल्य : निःशुल्क आन्तरिक वितरण के लिए

'भाषा भारती' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

शब्द संयोजन

विनोद रजक

मुद्रण

अमन प्रकाशन
नमक मण्डी, सागर (म.प्र.)
मो. 9826434225

समर्पण

विश्वविद्यालय के संस्थापक
सर हरीसिंह गौर की स्मृति को...

''इस विद्या-मन्दिर में चुप-चुप बैठ कभी जाता हूँ,
बीते युग की स्वप्न-सलोनी रस-वाणी पाता हूँ।
अखिल विश्व के नए-पुराने महामनीषि आते,
दुर्बलताओं से ऊपर उठ नव-नव स्वर में गाते।
लिखा मुक्ति के, अहं-तृप्ति के, यश के लिए जिन्होंने,
आज सतत् ऊर्ध्वमुख खोजते सत्य-स्वर्ग के कोने।''

सर हरीसिंह गौर की कविता 'इन अ लाईब्रेरी' से

उपसंहार

मुझे सुना दे आशा का मृदु गीत
        झंकृत जिसमें हों आस्था-आनन्द,
गीत निराशा का रहने दे, मीत
        जिससे दुख के अन्ध कक्ष में बन्द
प्राण हमारे पाएं अपना प्रीत,
        जान सकें हम अपनी शक्ति अमंद।
मुझे सुना दे दिव्य प्रेम का गीत,
        कि जो गला दे मन का अनहित रे
जो अंबर की आत्माओं का मीत,
        जो मानव को करे न मूलच्छत रे।
मुझे सुना दे कोई ऐसा गीत
        पा जाए तू यदि मन-वांछित रे।

हरीसिंह गौर

'स्टेपिंग वेस्टवर्ड एण्ड अदर पोइम्स' काव्य-संग्रह में संकलित कविता 'द एपिलॉग' का हिन्दी रूपान्तर

DOCTOR HARISINGH GOUR VISHWAVIDYALAYA, SAGAR - 470003 (M.P.)
(Central University)

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर - 470003 (म. प्र.)
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

Prof. N. S. Gajbhiye
Ph.D., F.N.A. Sc.
Vice - Chancellor
प्रो. एन. एस. गजभिये
पीएच.डी., एफ.एन.ए. एस.सी
कुलपति

☎ (Off.) : (07582)- 264796
(Resi.) : 223843, 223199
Fax : (07582)- 264163
e-mail : gajbhiyens@gmail.com
vcsagaruniversity@gmail.com

✲ संदेश ✲

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है कि हिन्दी दिवस (14 सितम्बर) के पावन अवसर पर विश्वविद्यालय का राजभाषा प्रकोष्ठ अपनी हिन्दी पत्रिका ***"भाषा भारती"*** के प्रथम अंक का प्रकाशन करने जा रहा है।

भारत के नागरिक होने के नाते हम सभी का यह नैतिक दायित्व है कि हम हिन्दी भाषा के प्रचार प्रसार में अपनी महती भूमिका का निर्वहन करें। जैसा कि आप सभी जानते हैं कि संविधान ने हिन्दी भाषा को राजभाषा का दर्जा प्रदान किया है तथा यह विश्व में सर्वाधिक बोली जानी वाली भाषाओं में द्वितीय स्थान रखती है। राष्ट्रीय एकता एवं समन्वय में भी हिन्दी भाषा का योगदान अविस्मरणीय है। हिन्दी भाषा अपनी सरल एवं सहज प्रकृति के कारण वार्तालाप का प्रभावी माध्यम है।

"भाषा भारती" का यह अंक अपने पितृपुरुष एवं विश्वविद्यालय के संस्थापक सर डॉ. हरीसिंह गौर को समर्पित है। यह समर्पण बुन्देलखण्ड के पिछड़े हुए क्षेत्र में ज्ञान की अलख जगाने वाले महापुरुष के प्रति विश्वविद्यालय परिवार की विनम्र श्रद्धांजली है।

हिन्दी पत्रिका की परिकल्पना का उद्‌देश्य विश्वविद्यालय के शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों को अपनी मौलिक सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए मंच प्रदान करना है। यह परिकल्पना ***"भाषा भारती"*** के रूप में आपके समक्ष है। इसके लिये पत्रिका का संपादक मंडल साधुवाद का पात्र है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि हमारी यह पत्रिका हिन्दी के प्रचार प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगी।

मैं ***"भाषा भारती"*** के सफल प्रकाशन की मंगल कामना करता हूँ।

शुभकामनाओं सहित।

सागर
दिनांक 30 अगस्त 2013

(प्रो. एन. एस. गजभिये)
कुलपति

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (470003), भारत
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
DOCTOR HARISINGH GOUR VISHWAVIDYALAYA, SAGAR (470003), INDIA
(A Central University)

कार्या. Office : (07582) 265228, 264236
: + 91 9425613690
फैक्स Fax : (07582) 264236, 264163
विश्वविद्यालय कार्यालय, सागर 470 003 (भारत)
University office, SAGAR - 470 003 (India)
E mail - registrar31@rediffmail.com
registraroffice@dhsgsu.ac.in

कुलसचिव
Registrar

संदेश

संघ की राजभाषा नीति के अन्तर्गत प्रेरणा, प्रोत्साहन और प्रशिक्षण के जरिए सरकारी कामकाज में अधिकाधिक हिन्दी का प्रयोग करने के प्रावधान किए गए हैं। मुझे यह बताते हुए हर्ष हो रहा है कि हमारा विश्वविद्यालय हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए निरन्तर प्रयासरत है। इसी कड़ी में *भाषा भारती* का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

हमारे विश्वविद्यालय को राजभाषा नियम 1976 के नियम 10 के उपनियम 4 के अन्तर्गत अधिसूचित किया गया है। स्पष्ट है कि हमारे विश्वविद्यालय के 80 प्रतिशत कर्मचारियों ने हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त कर लिया है। फिर हमारा विश्वविद्यालय हिन्दी भाषी क्षेत्र 'क' में ही आता है। हमारा लक्ष्य शतप्रतिशत कार्यालयीन कामकाज *हिन्दी* में करने का है। विश्वविद्यालय के सहयोगी अधिकारियों और कर्मचारियों से मेरा आग्रह है कि सरकारी कामकाज में हिन्दी का अधिकाधिक प्रयोग करें।

हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन राजभाषा क्रियान्वयन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कदम है। विश्वास है कि *भाषा भारती* राजभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार को बढ़ावा देने के साथ-साथ शिक्षकों/ अधिकारियों/ कर्मचारियों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए एक सशक्त मंच उपलब्ध करायेगी।

भाषा भारती के सफल प्रकाशन के लिए मैं राजभाषा प्रकोष्ठ एवं सम्पादक मण्डल को बधाई देता हूँ।

(अनूप केशवदेव पुजारी)

सम्पादकीय

देसिल वअना सब जन मिट्ठा

आज़ाद हुए 67 वर्ष बीत गये और तब से लेकर आज तक हम (भारतवासी) लोगों ने अपने देश की प्रगति के लिए न जाने कितनी कसमें खाईं, कितने वादे किए, कितने नियम बनाए, कितने दल बनाए कहना या गिनना मुश्किल नहीं तो शर्मनाक ज़रूर है। कितने महान् युगद्रष्टा विद्वानों के अथक प्रयास से भारतीय संविधान को तैयार किया गया और उसमें कितनी गंभीर, महत्त्वपूर्ण और ज़रूरी बातों को सूत्रबद्ध किया गया। और परिणाम? भाषाई संकल्पनाओं पर ध्यान दिया जाए तो भाषा के मामले में आज भी गुलाम है भारत। बाहोश पूरा देश ही बेहोश है। पराई भाषा की चमक-दमक, मोह-माया में पड़कर अपनी ही भाषा की शक्ति, ऊर्जा, सम्पन्नता और अस्मिता को आज हमने भुला दिया है। पश्चिम के रंग में रंगकर अपने आप को कब तक आधुनिक कहलाते रहेंगे, विकसित कहलाते रहेंगे? उधार ली हुई आधुनिकता से बेहतर है क्यों न अपनी ही परम्परा में स्वकीय आधुनिकता की तलाश करें। काव्य-पुरुष अज्ञेय की यह चिन्ता अप्रासंगिक नहीं है कि 'हमारे साहित्य में न तो हमें अपनी अनास्था दिखती है, न अपनी आस्था दिखती है, न अपनी चिन्ता दिखती है। पश्चिम की चिन्ता, पश्चिम की अनास्था, पश्चिम का त्रास हमको दिखता है और उस आधार पर हम अपने को आधुनिक मानते हैं। हमारी क्या चिन्ता होनी चाहिए, इसकी भी कोई चिन्ता हमको नहीं है।' पराई भाषा को घर में बिठाकर अपनी भाषा को बेघर कर दिया है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा था -

घर कइनु बाहिर, बाहिर कइनु घर,
पर कइनु आपन, आपन कइनु पर।

हिन्दी को भारतीय आधुनिक भाषाओं की 'मणि' और प्रान्तीय भाषाओं को 'रानी' के रूप में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ जी की यह सामासिक और समावेशी सांस्कृतिक कल्पना कितनी सुन्दर है - 'आधुनिक भारत की संस्कृति एक विकसित शतदल कमल के समान है, जिसका एक-एक दल एक-एक प्रान्तीय भाषा और उसका साहित्य, संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा ही नष्ट हो जाएगी। हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रान्तीय बोलियाँ, जिनमें सुन्दर साहित्य की सृष्टि हुई है, अपने-अपने घर में (प्रान्त में) रानी बनकर रहें, प्रान्त के

जनगण की हार्दिक चिन्ता की प्रकाश भूमि स्वरूप कविता की भाषा होकर रहें और आधुनिक भाषाओं के हार की मध्य मणि 'हिन्दी' भारत-भारती होकर विराजती रहे।' कहने को तो आधुनिक भाषाओं की मध्य मणि है 'हिन्दी' परन्तु आज़ादी के 67 वर्ष बीत जाने के बावजूद हमारे लिए आज भी सपना बनकर रह गई है 'राष्ट्रभाषा हिन्दी'। जो समृद्ध विरासत हमारे पास है उसको आगे बढ़ाने के बजाय पाश्चात्य संस्कृति की पूँछ पकड़ने की अद्‌भुत आदत डाल ली है हमने। अब भी समझ नहीं आई कि शिक्षा का माध्यम 'अँग्रेजी' होने से हमारी बौद्धिक चेतना जीवन से कटकर दूर हो गई है, हम अपनी ही जनता से अलग-थलग पड़ गए हैं, जाति के महत्त्वपूर्ण पक्षों का विकास रुक गया है? और पिछले सड़सठ वर्षों में अगर हमने कुछ सीखा है तो केवल रटना विरासत को भूलना और भूलते ही जाना। इससे तो और बदतर स्थिति है 'राजभाषा हिन्दी' की। राजभाषा हिन्दी के नाम पर कितना कमाया और कितना कोसा जा रहा है यह कहने की भी चीज़ नहीं रही। उधर सरकार भाषाई प्रगति के लिए क्या कुछ नहीं कर रही है : प्रशिक्षण, प्रोत्साहन, पुरस्कार, प्रकाशन, प्रसारण, प्रचार। फिर हिन्दी दिवस, तिमाही हिन्दी बैठकें, हिन्दी कार्यशालाएं तो खड़ी हैं ही अपनी-अपनी जगह पर और खड़ी रहेंगी सदियों तक अपनी सार्थकता और उपयोगिता प्रमाणित करने के लिए।

भारत जैसे विशाल देश में अनेक भाषाओं और बोलियों के चलते हमारे संविधान ने यह विवेकपूर्ण निर्देश दिया है कि सरकारी कामकाज की भाषा में हिन्दी को अपनाया जाए। ऐसे में संविधान के कुछेक अनुच्छेदों की मारफत हिन्दी बन गई है आज 'राजकाज की भाषा', परन्तु राष्ट्र की भाषा के रूप हिन्दी को आज भी सर्वसम्मति नहीं मिल पाई है। 27 दिसम्बर, 1917 को कलकत्ता में कही गयी गाँधी जी की यह उक्ति आज भी धूल चाट रही है : 'आज की पहली और सबसे बड़ी समाज-सेवा यह है कि हम अपनी देशी भाषाओं की ओर मुड़ें और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करें। हमें अपनी सभी प्रादेशिक कार्रवाइयाँ अपनी-अपनी भाषाओं में चलानी चाहिए तथा हमारी राष्ट्रीय कार्रवाइयों की भाषा हिन्दी होनी चाहिए।' जब तक जनता दिल से हिन्दी को नहीं अपनायेगी तब तक हिन्दी ऐसे ही दर-दर की ठोकरें खाती फिरती रहेगी। संवैधानिक रूप से जिस प्रकार हिन्दी 'राजभाषा' है उसी प्रकार आम जनता को भी चाहिए कि वह हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' का सम्मान दे... तभी बात बनेगी। क्योंकि जनता की चित्तवृत्ति और लोक चेतना से जुड़कर ही भाषा फलती-फूलती है; इसके विपरीत नियम, विनियम से बँधकर वह कुम्हलाने लगती है। इतना ही नहीं एक ऐसा समय भी आ जाता है जब उसकी प्रयोजनीयता पर भी प्रश्न चिह्न खड़े हो जाते हैं। अकारण नहीं कि आज दुनिया की 50 प्रतिशत भाषाएँ विलुप्तता के कगार पर खड़ी हैं और हर 14 दिन में दुनिया की एक बोलनेवाली भाषा मर रही है। कहने की ज़रूरत नहीं कि भाषा का मरना प्रकारान्तर से जाति और संस्कृति का मरना ही है, क्योंकि सभ्यता और संस्कृतियों की जातीय स्मृति भाषा में ही जीवित रहती है। न जाने

कितनी बार चिल्ला-चिल्लाकर कहा जा चुका है कि देश की पहचान होती है राष्ट्रभाषा... राष्ट्र की बुनियाद होती है राष्ट्रभाषा... किसी भी राष्ट्र की विशिष्ट वाणी होती है राष्ट्रभाषा। देश की संस्कृति की गूँज, जनता की चित्तवृत्ति की छवि और लोकरंग की सच्ची प्रतिच्छवि सिर्फ अपनी भाषा, निज भाषा, राष्ट्रभाषा में ही स्पष्ट दिखाई देती है। बहुत पहले पाश्चात्य विचारक हॉवेल ने स्पष्ट कर दिया था 'किसी भी देश और समाज के चरित्र को समझने की कसौटी केवल एक है और वह यह कि उस देश और समाज का भाषा से सरोकार क्या है।' बक़ौल भारतेन्दु 'निज भाषा उन्नति अहे, सब उन्नति को मूल।'

स्पष्ट है कि यदि हिन्दी राष्ट्र की भाषा होगी तो साहित्य का विस्तार भी राष्ट्रीय होगा। आज की यह राजभाषा कल की राष्ट्रभाषा भी बने हमारी चेतना और चिंतना सहज रूप से हिन्दी के साथ जुड़ जाए... इसी कामना के साथ 'भाषा भारती' के इस प्रवेशांक को आप जैसे सुधी पाठकों के समक्ष रखते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। आशा और विश्वास है कि विश्वविद्यालय के शिक्षक, अधिकारी व कर्मचारी पत्रिका के माध्यम से हमारी 'राष्ट्रभाषा-राजभाषा' हिन्दी की ओर मुड़ेंगे। इसमें हम कितना सफल होंगे वह तो आने वाला वक्त ही बतायेगा।

बहरहाल, इस अवसर पर विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति प्रो. एन.एस. गजभिये जी और कुलसचिव श्री अनूप केशवदेव पुजारी जी के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने राजभाषा प्रकोष्ठ को एक सुनहरा मौका दिया -- हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने की दिशा में एक सार्थक पहल करने के लिए। पत्रिका से जुड़े सम्पादक मण्डल, सम्बद्ध अधिकारीगण, रचनाकारों-लेखकों से हमें जो सहयोग मिला वह हमारे लिए वरदान तुल्य है। इनके बगैर पत्रिका को इस रूप में आपके समक्ष रख पाना हमारे लिए सम्भव नहीं था। प्रकाशकों, लेखकों की सहृदयता की बदौलत हम इस पत्रिका में कुछ महत्त्वपूर्ण लेखों को शामिल कर पाने में सक्षम हुए, सभी का तहेदिल से शुक्रिया। पुनश्च, पत्रिका की परिकल्पना से लेकर प्रकाशन तक जिन विद्वज्जनों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोग मिला उन सबके प्रति हृदय से आभार। पत्रिका को और बेहतर बनाने के लिए हमें आपके सुझावों एवं विचारों का इंतजार रहेगा। इत्यलम्।

छबिल कुमार मेहेर

14 सितम्बर, 2013
भाषा पर्व (हिन्दी दिवस)
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश-470003

अनुक्रमणिका

कुलपति महोदय का संदेश
कुलसचिव महोदय का संदेश
सम्पादकीय - देसिल वअना सब जन मिट्ठा

आलेख

नये युग में हिन्दी 15
राहुल सांकृत्यायन

राजभाषा और राष्ट्रभाषा 24
नन्ददुलारे वाजपेयी

अनुवाद के सन्दर्भ में मौलिकता 27
केदारनाथ अग्रवाल

सर हरीसिंह गौर की कविता 31
विजय बहादुर सिंह

खड़ी बोली : गद्य भाषा की सर्वसम्मति 44
सुरेश आचार्य

स्वातंत्र्योत्तर भारत में गाँधी का औचित्य 51
अम्बिकादत्त शर्मा

हिन्दी सिनेमा के सौ वर्ष 55
पंकज तिवारी

हिन्दी मेड ईज़ी 62
के. कृष्णा राव

कविता

एक ही चेहरा 67
पंकज चतुर्वेदी

कागज़-क़लम-शब्द 68
दिनेश अत्रि

साइंस की तरक्की पर दुआ 70
फिदा-उल-मुस्तफा फिदवी

दानवीर हे! गौरजी 71
संतोष सोहगौरा

पहचाने हुए अजनबी का प्यार 73
राजेन्द्र यादव

बंधन 74
अनुराग श्रीवास्तव

बोझ के बरक्स 75
राजकुमार पाल

माता-पिता 76
जमुना प्रसाद सैनी

वादा 77
रामकृष्ण माणके 'जयंत'

मोरे गौर साब ने सुन्दर बनवाई जा इनवरसिटी 78
महेश प्रसाद कुर्मी

तुम्हारा होना... 80
विवेक विसारिया

कहानी

स्कूटर... गोलगप्पे और वो लहराता आँचल 81
आशुतोष

बँटवारा 88
ललित मोहन

जीवनी

प्रो. एम.एल. श्रॉफ : भारत में फार्मेसी शिक्षा के जनक 92
अभय सिंघई

संस्मरण

जानकी वल्लभ शास्त्री : एक साहित्यिक तीर्थ 98
मृदुला सिन्हा

समीक्षा

अभावों की खिड़की से झाँकता सुख का सातवाँ आसमाँ 105
छबिल कुमार मेहेर

शब्द बोलते हैं 111
मधुकर चौधरी

अनुवाद

कुछ ख्वाब, कुछ हक़ीक़त 115
अभिषेक सक्सेना 'ऋषि'

रिपोर्ट

राजभाषा प्रको ष्ठ : कदम दर कदम 118
विनोद रजक

परिशिष्ट

कुछ ऐतिहासिक तथ्य हिन्दी के बारे में 120

●●●

नये युग में हिन्दी

राहुल सांकृत्यायन

हिन्दी का इतिहास उतना ही भव्य है जैसा कि विश्व की किसी भी उन्नत-से-उन्नत भाषा का है। आठवीं शताब्दी से हमारा हिन्दी साहित्य का इतिहास शुरू होता है। संस्कृत, पालि, प्राकृत की निधियों के कारण उस युग में भी हमें सरहपा, स्वयंभू, पुष्यदंत जैसे महाकवि प्राप्त हुए। उस युग की सारी कृतियों की हम रक्षा नहीं कर पाये, किन्तु जो भी अपभ्रंश के ग्रंथ-रत्न बचकर हम तक पहुँचे हैं, वह हमारे गर्व की वस्तु हैं। स्वयंभू और सरहपा ने दोहा और चौपाई में कविताएँ आरम्भ कीं। वह गोस्वामी तुलसीदास से होके पण्डित द्वारकाप्रसाद के *कृष्णायन* तक पहुँची है। मध्य युग में कबीर, सूर, तुलसी जैसे काव्य-निर्माता हुए, जिनकी कृतियाँ आज भी हमारी रोज-रोज के उपयोग में आती हैं, तृतीय युग में देव, बिहारी, भूषण, पद्माकर जैसी प्रतिभाएँ हिन्दी-क्षेत्र में प्रादुर्भूत हुईं। हिन्दी का आधुनिक काल अभी आधी शताब्दी से कुछ ही पहिले आरम्भ हुआ। यद्यपि हमारे यहाँ भारतेन्दु, श्रीधर, हरिऔध, मैथिलीशरण, पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि आदि कितने ही उच्च श्रेणी के कवि पैदा हुए हैं, लेकिन इतने पर भी यदि हमें संतोष नहीं होता, तो यह अच्छे लक्षण हैं। हमारी हिन्दी आधे भारत की भूमि और लोगों की भाषा है, साहित्य-क्षेत्र में उसी के अनुरूप गुण और परिमाण में उसकी देन होनी चाहिए।

हिन्दी गद्य साहित्य नयी चीज़ है। हमने इस क्षेत्र में भारत की कितनी ही भाषाओं से पीछे काम आरम्भ किया जिसका प्रभाव होना ज़रूरी ठहरा। साहित्य के माध्यम या शैली के परिपक्व होने में कुछ समय लगता है। हिन्दी की गद्य शैली को परिपक्व हुए मुश्किल से तीन दशाब्दियाँ हुई हैं। उन्नीसवीं सदी में, जबकि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बंकिमचन्द्र बँगला गद्य-साहित्य-गगन में अपनी ज्योति फैला रहे थे, उस समय अभी हम चटसाल से बाहर नहीं हुए थे। यह हिन्दी की किसी स्वाभाविक त्रुटि के कारण नहीं हुआ। जहाँ दूसरी भारतीय भाषाओं के गद्य-पद्य की भाषा क्या होगी, उसके बारे में कोई संदेह या प्रतिद्वन्द्विता का सवाल नहीं था, वहाँ हमारे यहाँ हिन्दी-क्षेत्र में अनेक स्वतंत्र भाषाएँ थीं, जिनमें मैथिली, अवधी, ब्रज और राजस्थानी का स्वतंत्र लिखित साहित्य भी मौजूद था, और उच्च कोटि का था। जिस भाषा को हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा और अन्त में सारे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा बनने का सौभाग्य मिलने वाला था, यह लिखित साहित्य से सूनी-सी थी। जब मेरठ कमिश्नरी के साढ़े तीन जिलों की इस भाषा को

व्यापक क्षेत्र के लिए स्वीकार भी कर लिया गया, तो वहाँ हिन्दी-उर्दू का झगड़ा खड़ा हो गया। इस झगड़े में उर्दू की पीठ पर अँग्रेज शासकों का हाथ था। वह नहीं चाहते थे कि भारत की स्वतंत्रता भावनाओं की प्रतीक हिन्दी आगे बढ़े। कचहरियों में, नौकरियों में अँग्रेजी के बाद उर्दू का स्थान था, जिसके लिए वर्तमान शताब्दी के आरम्भ तक कायस्थ और कश्मीरी उर्दू के भक्त हो हिन्दी को फूटी आँखों नहीं देखना चाहते थे। कायस्थ और कश्मीरी में यह बात किसी जातपाँत के कारण नहीं थी, युक्त-प्रान्त, बिहार, राजस्थान आदि में जो कोई नौकरी पेशा जातियाँ या वर्ग थे, वे सभी उर्दू को अर्थकारी भाषा समझते थे, और उसकी चरणधूलि सिर पर लगाते थे। यह भी एक कारण था जिसकी वजह से हिन्दी उतनी ही जल्दी अपने पैरों पर खड़ी हो पायी, जितनी जल्दी कि बँगला और दूसरी भाषाएँ। हालाँकि बँगला के गद्य के निर्माण का आरम्भ भी 18वीं-19वीं शताब्दी की संधि में उसी कलकत्ता से हुआ था, जहाँ हिन्दी और उर्दू के गद्य का आरम्भ।

हम अपने गद्य-साहित्य उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि से असंतुष्ट भले ही हों, लेकिन हमारे पास प्रेमचन्द जैसा विश्व के लेखकों में स्थान रखने वाला उपन्यासकार है। जैनेन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, यशपाल आदि आदि जैसे लेखनी के धनी अपनी कथा-रचनाओं द्वारा हिन्दी के गौरव को बढ़ाने वाले मौजूद हैं। हाँ, हम यह मानते हैं, कि हमारे साहित्य और उसके स्रष्टाओं का परिमाण और संख्या हमारी संख्या के अनुरूप नहीं है। यहाँ साहित्यिक प्रतिभा रखने वाले तरुण प्रायः अधखिले ही मुरझा जाते हैं। काल के आघात से नहीं, बल्कि अपने परिश्रम और साधन के अभाव के कारण वह आगे बढ़ नहीं पाते।

हमारे साहित्य-सेवियों को यह बात ध्यान में रखनी होगी कि जैसे-तैसे कुछ पंक्तियाँ काली करके संतोष कर लेने से अब काम नहीं चलेगा, न मित्र-मण्डली में परस्पर एक-दूसरे की प्रशंसा पा लेने से काम चलेगा। साहित्य पारखी भी अपने ही मित्र नहीं हुआ करते थे। उनकी प्रतीक्षा आने वाली पीढ़ियाँ करती रही हैं और आज भी करेंगी, जिन पीढ़ियों के ऊपर किसी भी सिफारिश या चापलूसी का प्रभाव नहीं पड़ सकता। आज हिन्दी हमारे सारे देश की राज्यभाषा स्वीकार हो चुकी है। दूसरे देश भी इस बात को नोट कर रहे हैं। पेरिस विश्वविद्यालय में हिन्दी लेने वाले छात्रों की संख्या चौगुनी हो गयी है, और विश्वविद्यालय को एक और अध्यापक नियुक्त करना पड़ा है। दुनिया के दूसरे स्वतंत्र देशों में भी हिन्दी पठन-पाठन का विस्तार होना अवश्यम्भावी है। फिर अपने देश के सभी प्रान्तों के स्कूलों में हिन्दी पढ़ना अनिवार्य बनाया जा रहा है। यह सभी जानते हैं कि सेना, केन्द्रीय नौकरियों, राजदूतिक सेवाओं के लिए हिन्दी का ज्ञान आवश्यक है, इसलिए भला कैसे कोई प्रान्त हिन्दी सीखने में अपने को पीछे रख सकता है? इस प्रकार हमारे साहित्य के पारखी अब केवल हिन्दी भाषा-भाषियों तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि सारे भारत की दूसरी भाषाओं के विद्वान् तथा विदेशी हिन्दी भाषाभिज्ञ भी अपनी कसौटी

पर रखेंगे। इसलिए हमारे साहित्य-सेवियों को अपने दायित्व को अच्छी तरह समझना चाहिए और ऐसे साहित्य का निर्माण करना चाहिए जो भारत के दूसरे प्रदेशों तथा विश्व में हमारे मस्तक को ऊँचा रख सके। हमें विश्वास है कि हम इस परीक्षा में उत्तीर्ण होंगे।

जहाँ तक काव्य, कथा साहित्य या निबन्धों का सम्बन्ध है, हमारे पास काफी पूँजी है और शब्द विधि तो पूर्ण है, जिसके द्वारा हम अपने सारे भावों को स्पष्ट और सूक्ष्मतापूर्वक प्रकट कर सकते हैं। किन्तु राजनीतिक परतंत्रता के कारण देश की और भाषाओं की भाँति हिन्दी भी राजकाज और ज्ञान-विज्ञान के उपयोग के लिए अधिक विकसित नहीं हो सकी। आज राजनीतिक परतंत्रता के हटने और हिन्दी को राज्यभाषा मान लेने पर उसके विकास के सारे रास्ते खुल चुके हैं। जिस तरह अँग्रेजी में सभी विषयों का माध्यम बनने की क्षमता है और उसके पास विशाल साहित्य है, उसी तरह अब हिन्दी को भी अपने को बनाना है। देश की स्वतंत्रता के साथ जब देश का संविधान बनने लगा, उसी समय हिन्दी से माँग की गयी कि वह संविधान को अपना रूप दे। भारतीय संविधान के मसौदे के चार अनुवाद किये जा चुके थे, जिनमें दो हिन्दी के और एक-एक हिन्दुस्तानी और उर्दू के थे। इनमें तीन सरकारी या अर्ध सरकारी थे। इनसे संतुष्ट न होकर संविधान सभा के सभापति ने हिन्दी अनुवाद के लिए एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की, जिसने अभी हाल में अपना अनुवाद तैयार किया है। संविधान या विधान (कानून) का अनुवाद किसी ऐसी भाषा में करना आसान नहीं है, जिसमें विधान सम्बन्धी साहित्य और परम्परा स्थापित नहीं हो चुकी है। लेकिन हम कह सकते हैं कि जो अनुवाद हाल में तैयार हुआ है, वह संतोषजनक सिद्ध होगा। इस अनुवाद के साथ-साथ हमें आठ सौ से अधिक विधान सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों को निश्चित करने का अवसर मिला। अनुवाद समिति के छह सदस्यों में तीन हिन्दी और तीन अहिन्दी भाषी थे। यह आवश्यक समझा गया कि अधिकांश संस्कृत की होने से परिभाषाएँ ऐसी होनी चाहिए जो कि सारे देश में एक-सी हों। तेलुगु, बँगला और मराठी भाषा-भाषी विशेषज्ञ भी समिति में रखे गये। इसका परिणाम बहुत सुन्दर हुआ। परिभाषाओं को लेते समय हमने पूरब, पश्चिम और दक्षिण की भाषाओं का भी ध्यान रखा और बिना हिचक के इन भाषाओं से भी शब्द लिये गये। संविधान सभा के सभापति ने सारे देश की एक तरह की परिभाषा हो, इसके लिए हिन्दी के अतिरिक्त असमी, बँगला, उड़िया, तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड, मराठी, गुजराती, पंजाबी, कश्मीरी, संस्कृत, उर्दू के भी विशेषज्ञों का सम्मेलन बुलाया, जिसने विवेचना करके संविधान के आठ सौ शब्दों पर अपनी मुहर लगा दी। इन आठ सौ शब्दों में 90 प्रतिशत ऐसे शब्द हैं, जिन्हें, तमिल, कश्मीरी और उर्दू छोड़कर बाकी सभी भाषाएँ स्वीकार करने जा रही हैं। तमिल और कश्मीरी में भी बहुत बड़ी संख्याओं में यही पारिभाषिक शब्द लिए जायँगे, और बाकी को फुटनोट में रखकर लोगों को परिचित होने का मौका दिया जाएगा। जहाँ तक संविधान के लिए आवश्यक शब्दों का सम्बन्ध है, वह हमारे पास अब मौजूद है। इन परिभाषाओं

को लेने में किसी ने दुराग्रह नहीं किया था। हमारा ध्यान केवल इसी ओर था कि शब्द सुगम और आसानी से उच्चारण करने योग्य हों, तथा जिन्हें भारत की अधिक-से-अधिक भाषाएँ स्वीकार कर लें। उर्दूवाले भाइयों को कुछ हताश ज़रूर होना पड़ा और उनके साथ नये मुल्ला हिन्दुस्तानी वालों को भी संतोष नहीं हो सका। लेकिन इसमें कसूर किसका है? जिन अरबी के शब्दों के लिए लोग आमफहम और सर्वत्र प्रचलित होने का दावा करते थे, उनसे दूसरी भाषाओं के विशेषज्ञ यदि अपने को अनभिज्ञ कहते हैं, तो उनके मत्थे कैसे इन शब्दों को थोपा जा सकता था? वैसे जो अरबी या पारसी के शब्द अन्य भाषा-भाषी अधिकांश प्रान्तों में प्रचलित थे, उनको लेने में संकोच नहीं किया गया और अरबी के करार, रद, जामिन, दावा, जिला, शर्त, मंजूरी, जुर्माना, वकील, वादा जैसे शब्द स्वीकार कर लिये गये। इसी तरह और भी बहुप्रचलित कितने ही विदेशी भाषाओं के शब्द संविधान परिभाषाओं में लिये गये हैं -

दस्तावेज -	(पारसी)	डिग्री-	(अँग्रेजी)
मजूरी-	(”)	बजार-	(तुर्की)
लगान-	(”)	फीस-	(अँग्रेजी)
सिपारिश-	(”)	गजट-	(”)
बंदी-	(”)	ट्रामवे-	(”)
अपील-	(अँग्रेजी)	प्रामिसरी नोट-	(अँग्रेजी)
बंक-	(”)	रेल-	(”)
बोर्ड-	(”)	कुर्की-	(तुर्की)
चैक-	(”)	नौकरी-	(मंगोल)
कम्पनी-	(”)	कारखाना-	(पारसी)
फेडरल-	(”)	बेकारी-	(”)

भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के विशेषज्ञ प्रतिनिधियों ने बड़े सौहार्द के साथ परिभाषाओं के सम्बन्ध में निर्णय किया। कौन शब्द कहाँ चलता है और कौन नहीं चलता, इसका पता लग जाने पर भी सभी लोगों ने शब्दों के लेन-देन में बड़ी उदारता से काम लिया। परिषद् के वाद-संवाद से सभी लोगों को मालूम हुआ कि सारे देश में अधिक प्रगतिशील वही शब्द हैं जो संस्कृत से आये हैं। उनके भी तद्भव रूपों का एक-सा प्रचार बहुत कम देखा जाता है और तत्सम रूप ही सर्वत्र ग्राह्य है। हिन्दी भाषा-भाषी तथा उत्तरी भाषाओं के कुछ और प्रतिनिधियों के लिए पंच और पंचायत अति प्रचलित शब्द मालूम होता है। लेकिन तेलुगु, मलयालम आदि दक्षिणी भाषाओं के लिए वह अपरिचित शब्द है। इसलिए ‘मध्यस्थ’ शब्द स्वीकार करना पड़ा।

संस्कृत के भ्रम से बंदी शब्द को सभी भाषाओं ने कैदी के अर्थ में स्वीकार किया, यद्यपि यह पारसी का शब्द है, जिसे सत्यनारायण कथा में आने से कितने ही लोग समझते हैं कि यह संस्कृत का शब्द है। संस्कृत में बंदी नहीं वंदी शब्द है - जो वंदीजन वंदना करने वाला या स्तुतिपाठक का पर्याय है। 'बंद' संस्कृत धातु का पारसी रूप है, जहाँ महाप्राण व्यंजनों का अक्सर अल्पप्राण बन जाता है और बंध बंद का रूप लेता है। संस्कृत के बंध धातु के धकार को अल्पप्राण 'द' नहीं बनाया जा सकता। अस्तु 'दोधरा' तद्‌भव शब्द है जिसे दक्षिणवालों के लिए द्विगृह बनाना पड़ा। कभी-कभी रूढ़ि के कारण एक ही जगह दो शब्द रखने पड़े। नागरिक और नागरिकता हिन्दी, बँगला आदि में बहुत प्रचलित शब्द है किन्तु दक्षिण में उसे चालाक या चालाकी के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, इसलिए उन लोगों ने पौर और पौरत्व स्वीकार किया।

प्रान्तीय भाषाओं से भी कुछ शब्द लिये गये हैं। इनमें पंचाठ कश्मीरी भाषा का है, जो कि 'एवार्ड' का पर्यायवाची है। इसी तरह 'फिशरी' के लिए 'मीनक्षेत्र' तमिल मीन शब्द को लेकर बनाया गया है जो कि पहिले भी द्रविड़ भाषा से संस्कृत में लिया जा चुका था। संविधान के जो पारिभाषिक शब्द विशेषज्ञों की परिषद् में स्वीकार किये गये, सभी निर्विरोध नहीं स्वीकृत हुए, किन्तु साढ़े तीन दर्जन सदस्यों में से किसी-ही-किसी शब्द के विरोधी आधे दर्जन रहे। सबने अन्त में आशा प्रकट की कि स्वीकृत शब्दों को सारे देश में प्रचलित किया जाएगा। इन्हीं स्वीकृत शब्दों का उपयोग हिन्दी अनुवाद में किया गया है।

साधारण दृष्टि से देखने पर कोई-कोई शब्द अनावश्यक गढ़े-से मालूम होंगे, और कोई-कोई कह उठेंगे, कि उनकी जगह कोई अधिक प्रचलित शब्द लिया जा सकता था। कोई अधिक प्रचलित शब्द क्या, प्रचलित शब्द भी छोड़ा नहीं गया है। लेकिन कानून की बारीकियों को ध्यान में रखना भी आवश्यक था, विशेषकर जिस अँग्रेजी कानून परम्परा का हमारा देश अभी भी अनुसरण कर रहा है, उसमें भाव की नहीं, शब्द की प्रधानता मानी जाती है। शब्द की व्याख्या पर बड़े-बड़े मुकदमों का फैसला निर्भर करता है। रूस, जर्मनी जैसे देशों में भावों को प्रधानता दी जाती है, इसलिए वहाँ शब्दों के सम्बन्ध में बाल की खाल नहीं खींची जाती। हमें सम्मति, अनुमति, सहमति की तरह कई शब्द सूक्ष्म भेदों को दिखलाने के लिए स्वीकार करने पड़े हैं। सरकारी अधिकारियों और मंत्रिमंडल आदि के सम्बन्ध के स्वीकृत कुछ शब्द निम्न प्रकार हैं -

महाप्रसारक	आयोग
नावधिकरण	प्रवरसमिति
महाधिवक्ता	संविधान सभा
महान्यायवादी	वाणिज्यदूत
महालेखा परीक्षक	महालेखापरीक्षक

जिलापालिका	मंत्रिपरिषद्
स्थानीयपालिका	राज्यपरिषद्
मुख्यमंत्री	प्रादेशिक परिषद्
प्रधानमंत्री	न्यायालय
	व्यवहार न्यायालय

Court (Magistrate)	न्यायालय (दण्डाधिकारी)
Court (Supreme)	उच्चतम न्यायालय
Court (Session Judge)	सत्र न्यायालय
Court of Wards	प्रतिपालक अधिकरण
Criminal Law	दंडविधि
Custom duty	सीमाशुल्क
Defence	प्रतिरक्षा
District Council	जिला परिषद्
Duty (custom)	सीमा शुल्क
Duty (Excise)	उत्पादन शुल्क
Duty (death)	मरण शुल्क
Electorial College	निर्वाचक गण
Executive	कार्यपालिका
Executive power	कार्यपालक शक्ति
Government	सरकार
Governance	शासन
Governor	राज्यपाल
House of the people	लोक सभा
Immunities	उन्मुक्तियाँ
Impeachment	महाभियोग
Instrument	लिखत
Insurance	बीमा

Judge	न्यायाधीश
Justice (chief)	न्यायाधिपति
Legislative Assembly	विधान सभा
Legislative Council	विधान परिषद्
Liutenant-Governor	उपराज्यपाल
Minister	मंत्री
Municipal Corporation	नगर निगम
Municipal Committee	नगर समिति
Municipality	नगर पालिका
Parliament	संसद
Pass Port	पार-पत्र
Police	आरक्षक
Port Quarantine	पतन निरोध
President	राष्ट्रपति
Prime Minister	प्रधान मंत्री
Proportional representation	अनुपाती प्रतिनिधित्व
Provisions	उपबंध
Regional Commissioner	प्रादेशिक आयुक्त
Savings	व्यावृत्ति
Staffs	कर्मचारी वृन्द
Stock Exchanges	श्रेष्ठिचत्वर
Territorial	जलप्रांगण
Training	प्रशिक्षण
Tribunal	न्यायाधिकरण
Acting	कार्यकारी
Airways	वायु पथ

Arbitrator	मध्यस्थ
Armed forces	सशस्त्र बल
Chairman	सभापति
Disqualification	निर्योग्यता
Involve	अन्तर्ग्रस्त
Prohibition (writ of)	प्रतिशोध (लेख)
Tranquility	प्रशान्ति

केन्द्र ने शासन विधान (कानून) सम्बन्धी परिभाषाओं के निर्माण का काम भी हाथ में ले लिया है। यह परिभाषाएँ 40 हजार से कम न होंगी। हमें आशा है वह 1951 तक खतम हो जायेंगी। सारे देश के न्यायालयों, विधानमण्डलों तथा पार्लियामेंट एवं सरकारी कार्यालयों के व्यवहार के 50 हजार शब्दों में 49 हजार यदि एक हो जायँ, तो यह हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए कितनी बड़ी बात होगी, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। इसके साथ यह भी याद रखने की बात है कि ऐसी एकता के लिए जबर्दस्ती की आवश्यकता नहीं, वह तो असमी, बँगला, उड़िया, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, मराठी, गुजराती, हिन्दी की स्वाभाविक प्रवृत्ति के ही उपयोग से सुसाध्य है। इस एकता के कारण हमारी भाषाएँ एक-दूसरे से और भी नजदीक आ जायेंगी, इसमें संदेह नहीं। यह हिन्दी ही नहीं, देश की सारी भाषाओं का सम्मिलित उत्थान है, जिससे हमारी भाषाओं का नया युग आरम्भ हो रहा है। इसको पूरा करने के लिए वैज्ञानिक परिभाषाओं के सम्बन्ध में इसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता है।

वैज्ञानिक परिभाषाओं की संख्या 4-5 लाख सुनकर घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। जिन लोगों ने परिभाषा-निर्माण में हाथ लगाया है, वह जानते हैं कि यह इष्टसाध्य ही नहीं, कृतिसाध्य भी है। किन्तु, यह अच्छा नहीं है कि यह काम भिन्न-भिन्न भाषाएँ अलग-अलग करें। इससे परिभाषाओं में भिन्नता आयेगी, जिसे परिभाषाओं के संस्कृतमूलक होने के कारण आसानी से रोका जा सकता है। यह भी खेदजनक बात है कि हिन्दी में भी परिभाषाओं के निर्माण का काम एक से अधिक जगहों में हो रहा है। सबसे अच्छा तो होता, यदि इस काम को भी केन्द्र अपने हाथ में ले लेता, लेकिन हमारे शिक्षामंत्री और शिक्षा-विभाग की जो नीति है, उससे कोई आशा नहीं रखी जा सकती। अभी तो इन्हें जैसे हो तैसे अरबी-पारसी शब्दों को हिन्दी के मत्थे मढ़ने के महा आयोजन से ही फुर्सत नहीं है। हिन्दी-क्षेत्र के बाहर के कितने ही बड़े-बड़े विज्ञानशास्त्रियों की धारणा है (जिसके पोषक हिन्दी-क्षेत्र में भी दुर्लभ नहीं हैं), कि अपनी भाषा द्वारा ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन हमारे ज्ञान-तल को नीचे गिरा देगा। इसलिए साइन्स का अध्ययनाध्यापन केवल अँग्रेजी द्वारा होना चाहिए। उनके तर्क के अनुसार तो हमारे राष्ट्र को

साइन्स के सम्बन्ध में सदा अँग्रेजी का मुँह जोहते रहना चाहिए। लेकिन क्या जापान में विज्ञान की शिक्षा आरम्भ करते समय ऐसा सोचा था? हमारे एक-एक जिले के बराबर अपने विश्वविद्यालय में अपनी भाषा द्वारा शिक्षा देते क्या कभी ऐसा सोचते हैं? वह ऐसा करके सफल रहे हैं, इसका पता तो उनके यहाँ के विज्ञान के नोबल पुरस्कार विजेता को है। विज्ञान की शिक्षा में कोई भी देश अपनी भाषा तक ही अपने ज्ञान को सीमित नहीं रखता। सभी देशों के अनुसंधानकर्ता दो-तीन दूसरी समृद्ध भाषाओं का भी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। हमारे देश में भी यही करना होगा, और विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए यूरोप की समृद्ध भाषाओं में से कम-से-कम दो के व्यावहारिक ज्ञान को अत्यावश्यक मानना होगा। लेकिन इससे अपनी भाषा के माध्यम बनने की अनिवार्यता को कम नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक परिभाषाओं के निर्माण का प्रबन्ध जब तक केन्द्र से नहीं होता, तब तक हमें हाथ पर हाथ रखकर बैठे नहीं रहना चाहिए। बिहार, युक्त प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान और पंजाब की सरकारों को सम्मिलित रूप से इस काम को चाहे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वारा या स्वतः करना चाहिए, केवल 15 विद्वानों, 15 सहायकों के दो वर्ष और दस लाख के व्यय की आवश्यकता है।

हिन्दी को इस नये युग में अपने साहित्य की पूर्णता को प्राप्त कराना है। परिभाषाओं के बन जाने की देर है, साहित्य का सृजन तो स्वतः होने लगेगा, क्योंकि उसकी सबसे बड़ी माँग स्कूलों और कालेजों की पाठ्य-पुस्तकों के रूप में होगी, जिसके लिए प्रकाशक सब-कुछ करने के लिए तैयार हैं। हिन्दी माध्यम से विज्ञान पढ़े लोगों की संख्या-वृद्धि के अनुसार साधारण वैज्ञानिक साहित्य के सृजन में भी वृद्धि होगी।

'राहुल रचनामृत' से साभार

''राष्ट्र के एकीकरण के लिए सर्वमान्य भाषा से अधिक प्रभावशाली कोई तत्त्व नहीं। मेरे विचार में हिन्दी ही ऐसी भाषा है।''

\- लोकमान्य तिलक

राजभाषा और राष्ट्रभाषा

नन्ददुलारे वाजपेयी

मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि आप सबको, जो यहाँ सैकड़ों की संख्या में उपस्थित हैं, हिन्दी आती है। आप लोगों में सभी का हिन्दी का समझना मेरे लिए अपार हर्ष का विषय है। मैं हिन्दी के कार्य से देश के विभिन्न भागों में जाया करता हूँ और वहाँ की गतिविधि से प्रायः परिचित हूँ। परन्तु इतने सुदूर दक्षिण प्रदेश में हम देखते हैं कि हिन्दी विषय दसवें दर्जे तक अनिवार्य विषय बना है। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ के अधिकारी, कार्यकर्तागण राजनीति के साथ ही, शैक्षणिक विषयों पर भी अधिक ध्यान रखते हैं। इस प्रकार वे सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कार्य तो करते ही हैं, पर देश के भविष्य के सम्बन्ध में भी उदासीन नहीं हैं। सभी देशों में जनता को महत्त्वपूर्ण तथा साधारण कार्य के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पड़ती है। यदि इस देश में विभिन्न प्रकार के भाषा-भाषी न होते और देश का विस्तार अधिक न होता तो एक या दो भाषाओं से काम चल सकता था। सम्भव यह भी था कि मध्यवर्तिनी या केन्द्रीय भाषा की आवश्यकता ही न पड़ती। पर भारतवर्ष एक बड़ा देश है। इसके विभिन्न भागों में कुल मिलाकर चौदह बड़ी भाषाएँ प्रचलित हैं। इस विभिन्नता में सर्वसाधारण को आपस में कार्य करने और एक-दूसरे को समझने के लिए एक माध्यम की आवश्यकता है। इस प्रदेश में इसकी तैयारी पहले से ही है। आपको इस कार्य के लिए मैं बधाई देता हूँ। साथ ही, मेरी यह अभिलाषा है कि इस प्रदेश के अनुकरण पर दूसरे प्रदेशों में भी ऐसी ही परम्परा बन जाए।

प्रश्न उठता है और आप भी यह पूछ सकते हैं कि हिन्दी को ही अन्तर्प्रदेशीय भाषा क्यों बनाया जाए? क्या अन्य भाषाओं में यह योग्यता नहीं है? क्या उन्हें राजभाषा का पद नहीं दिया जा सकता? मित्रों! किसी भी भाषा को राजभाषा का पद देने के पूर्व हमें सोचना होगा कि उसकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं, उसके साथ उसको बोलने और समझने वालों की संख्या की भी गणना करनी पड़ेगी। हिन्दी को जो राजभाषा बनने का सौभाग्य मिला है, यह उसका अपना महत्त्व है। उन्नीस करोड़ आदमी इसे व्यवहार में लाते हैं। इतने आदमी इसे क्यों बोलते हैं? जिस भाषा को जितने अधिक लोग बोलते हों, उतना ही उसका राष्ट्रीय महत्त्व मानना होगा। हिन्दी का करीब एक हजार वर्षों का साहित्य है, जिसमें सूर, तुलसी, मीरा और भारतेन्दु से लेकर आधुनिक युग में जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला आदि कवियों की बहुमूल्य निधियाँ मौजूद हैं। गद्य-लेखन का कार्य भी काफी हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की अपनी परम्परा है जो राष्ट्र के जीवन के

समस्त संघर्षों से जुड़ी हुई है। वह इतिहास की दृष्टि से भी केन्द्र की भाषा है। इसलिए यदि इसको 'राजभाषा' बनाने का प्रस्ताव है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमें यहाँ पर राजभाषा और राष्ट्रभाषा के अन्तर को समझना आवश्यक है। राजभाषा उसे कहते हैं जो केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों द्वारा पत्र-व्यवहार, राज्य-कार्य और अन्य सरकारी लिखा-पढ़ी के काम में लाई जाए। राष्ट्रभाषा की कल्पना इससे भिन्न है। उसका पद और भी बड़ा है। उसी भाषा का गौरव सबसे अधिक हो सकता है और वही राष्ट्रभाषा कहला सकती है जिसको सब जनता समझती हो और जिसका अस्तित्व सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो।

सरकार की नीति हिन्दी को राजभाषा बनाने की है परंतु सरकारी कार्य सीमित भूमि पर ही होते हैं। भारतीय संविधान में हिन्दी को 'ऑफीशियल लैंग्वेज' बनाने का निर्देश है। इस राजभाषा पर जोर देकर मैं यहाँ कोई सरकारी प्रचार करने नहीं आया हूँ। मैं आपसे राजभाषा नहीं, राष्ट्रभाषा की बात करने आया हूँ। इस सम्बन्ध में राज्य-सरकारों ने भी नियम नहीं बनाए हैं। पर मित्रों, आज राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की उपयोगिता है। साथ ही, यह आज की आवश्यकता भी है। आज आप यहीं हैं, पर कल देश के दूसरे भागों में भी आपके जाने की संभावना की जा सकती है। सम्पूर्ण कार्य आपके यहीं पर, एक ही स्थान पर नहीं हो सकते। आपको नौकरी, व्यापार, तीर्थाटन अथवा अन्यान्य कार्यों के सम्बन्ध में देश में भ्रमण करना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति सारी जिंदगी घर पर नहीं रह सकता। उसे उत्तर या दक्षिण, पूर्व या पश्चिम, कहीं न कहीं जाना ही पड़ेगा। यदि कोई व्यक्ति सम्पूर्ण जीवन घर पर व्यतीत करे तो उसे कदाचित् राष्ट्रभाषा की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, पर वर्तमान युग ने अपने देश के विभिन्न भागों की दूरी बहुत कम कर दी है। यहीं पर यदि अध्यापन की जगह खाली होती है तो सारे देश के लोग अपने आवेदन-पत्र भेजते हैं। सारे देश के लोगों में से चुनाव होता है। वास्तविक भारतीय प्रजातंत्र की स्थापना तभी हो सकती है जब ऐसा हो। लोग यदि प्रान्तीय आधारों पर रहते हैं तो उनकी सार्वत्रिक कमजोरियाँ ही बढ़ती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि भाषा पर ध्यान दिया जाए। एक सामान्य भाषा-व्यवस्था होनी ही चाहिए, जिसके द्वारा सरकारी नौकरियों में और विभिन्न स्थानों में रहने वाले व्यक्तियों को सुविधा हो। भारत सरीखे देश में यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि एक सामान्य भाषा हो। हमारा संविधान भी इस बात का पूर्ण रूप से समर्थन करता है। यदि भारतीय संविधान ऐसा होता कि प्रत्येक प्रदेश को अलग-अलग अधिकार दे दिए होते तो कदाचित् आप कह सकते थे कि दिल्ली वाले को पंजाब की भाषा सीखने की आवश्यकता नहीं है। परंतु संविधान में भारत एक इकाई है। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक लोगों के समान अधिकार हैं। इस रूप में उन्हें अपने अधिकार का प्रयोग करना चाहिए।

किसी भाषा को स्वीकार करना या न करना अब व्यक्ति की अपनी आवश्यकताओं की बात है। क्या जबर्दस्ती किसी से कोई भाषा सीखने को कहा जा सकता है? क्या किसी भी दृष्टि में ऐसा उपयुक्त होगा? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि हिन्दी के किसी भी हिमायती का यह लक्ष्य कदापि नहीं है कि किसी की इच्छा के विरुद्ध वह यह कार्य करे। आज से दो सौ वर्ष पूर्व

अँग्रेजी जिस प्रकार हमारे गले से नीचे उतारी गई, क्या उस रूप में हिन्दी भी हमारे ऊपर लादी जाए? मैं इसका विरोध करता हूँ। इस प्रजातंत्र में हिन्दी आपकी सेविका है। यह भाषा जनता को बल देने वाली तो है ही, साथ ही, एकता के सूत्र में बांधने वाली भी है। आप यह कह सकते हैं कि अँग्रेजी भी तो थी। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि डेढ़-दो सौ वर्षों में मुश्किल से एक प्रतिशत से भी कम जनता अँग्रेजी जान पाई है। अँग्रेजी की इस स्थिति के रहते उसे राष्ट्रीय भाषा नहीं बनाया जा सकता। इस देश की संस्कृति, रीति-नीति, जन-जीवन विभिन्न प्रान्तों में सब एक ही प्रकार का है। केरल और अन्य प्रदेशों में कई बातों में समता है विचारों से लेकर जीवनचर्या तक में बहुत कुछ साम्य है। परंतु सामान्य भाषा-हिन्दी भाषा की जानकारी न होने से सर्वत्र विभिन्नता ही दीखती है। इस विभिन्नता को हटाकर यदि हमें पूर्ण एकता को स्थापित करना है तो यह आवश्यक है कि हमारे देश की एक सामान्य भाषा हो। सच्चे प्रजातंत्र के लिए यह आवश्यक होगा कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिया जाए। सच्चे अर्थ में हम तभी एक राष्ट्र का स्वरूप ग्रहण कर सकेंगे।

राष्ट्र को शक्ति देने के लिए हमें आपसी दूरी और विभेद दूर करने होंगे और यह कार्य एक सामान्य भाषा के द्वारा ही सम्भव है। हिन्दी इसके लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। राष्ट्र एक शरीर और एक प्राण के रूप में भलीभाँति तभी कार्य कर सकता है, जब उसमें रहने वाले निवासियों को यह अनुभव हो कि वे एक राष्ट्र के व्यक्ति हैं। इस दृष्टि से देश में एक भाषा होनी ही चाहिए। ऐसी भाषा को सीखने के लिए समय का प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता कि इतने समय में यह सबको आ ही जाए। इसमें जनता का मुख्य लक्ष्य राष्ट्रीय होना चाहिए। राष्ट्र की उन्नति और सुविधा के लिए यह आवश्यक है कि वे हिन्दी जैसी भाषा सीखें। हिन्दी के प्रसार में जितनी चीज़ें उपस्थित की गई हैं, वे सब वैकल्पिक हैं। उनका किसी पर किसी प्रकार आरोपण नहीं है। यदि जनता में राष्ट्रीय भावना है तो सबकी स्वेच्छा से ही यह सामान्य भाषा की कमी पूर्ण हो सकती है। एक बार हमारा झुकाव इस ओर हो जाए तो राष्ट्रभाषा के बनने में देर न लगे।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि हिन्दी का श्रीगणेश यहाँ पर पहले से ही हो गया है। कल जब मैं यहाँ आया और कुछ समय के लिए श्री विश्वनाथ अय्यर के यहाँ ठहरा तो भाषा की विभिन्नता के कारण उनके बच्चों से बात न कर सका, यद्यपि बच्चों में आगंतुक के प्रति स्नेह की भावना थी। उनेक कार्य भी उसी प्रकार के थे। पर न तो वे हिन्दी समझ सकते थे और न मैं मलयालम। इस प्रकार भाषा की बाधा से स्नेहसूत्र में व्याघात हुआ। यह केवल बालकों से मिलने की बाधा नहीं है, वरन् हमें अपने ही देश में अपने ही लोगों से अपरिचित रहना पड़ता है। ऐसे अनेक व्याघातों को दूर करने के लिए कौन-सा मार्ग अपनाया जा सकता है? निश्चय ही हिन्दी एक ऐसा साधन है जिससे ये व्यवधान ही नहीं, देश के सारे विभेद भी दूर किए जा सकते हैं।

मार आइवानिस कॉलेज, त्रिवेंद्रम की हिन्दी साहित्य-सभा का उद्घाटन-भाषण,
नन्द दुलारे वाजपेयी रचनावली : 6 (सं. विजय बहादुर सिंह) से साभार

अनुवाद के सन्दर्भ में मौलिकता

केदारनाथ अग्रवाल

एक भाषा की मूल कृति का अनुवाद जब दूसरी भाषा में किया जाता है तब एक कृति के बजाय दो कृतियाँ हो जाती हैं : एक मूल कृति और दूसरी अनूदित कृति। दोनों में यथा-सम्भव वही कलेवरीय साम्य मिलता है। शिल्प के स्तर पर दोनों में लगभग वैसा ही शिल्प रहता है। फिर भी यह देखा गया है कि कलेवरीय साम्य तो अपने मूल रूप में सुरक्षित रहता है परन्तु मूल शिल्प अनुवाद की स्थिति में बदल जाता है और वह अनुवाद की भाषा के अनुरूप शिल्प पा लेता है। अनुवादक को कलेवरीय साम्य सुरक्षित रखने में कम-से-कम कष्ट और श्रम करना पड़ता है। शिल्प को सुरक्षित रख सकने की दिशा में ही अनुवादक को दोहरा कष्ट और श्रम करना पड़ता है। एक ओर वह मूल रचना की शिल्पगत विशिष्टताओं को आत्मसात् करता है और आत्मसात् करने में भाषा के स्तर पर कई तरह से संघर्ष करता है। दूसरी ओर वह संघर्ष से उपलब्ध विशिष्टताओं से संपृक्त करने में कई तरह से पुनः संघर्ष करता है और ऐसा करने में, अपनी मौलिकता के बल पर, नया सम्प्रेषणीय शिल्प प्रस्तुत करता है। उपन्यास को लीजिए। अनुवाद के सन्तरण-काल में मूल कृति का कलेवरीय गठन अपने समस्त घटनाक्रम के सहित व्याप्त होता है। अनुवादक को मूल-कृतिकार की तरह उपन्यास की कथावस्तु को संयोजित करने की पीड़ा से नहीं गुजरना पड़ता। वह पका-पकाया माल पा जाता है। उस पके-पकाए माल को ही वह सहज ही अपने अनुवाद की भाषा में ज्यों-का-त्यों रख देता है।

इस रखने में उसे अपनी आत्मपरकता का कम-से-कम उपयोग करना पड़ता है। परन्तु जब अनुवादक उपन्यास के अनेकानेक आत्मपरक स्थलों को अपने अनुवाद की भाषा में उतार कर रखता है तब उसे मौलिक कृतिकार की तरह ही वैसा ही आत्मगत संघर्ष करना पड़ता है जैसा आत्मगत संघर्ष मौलिक कृतिकार को करना पड़ा था। एक भाषा में व्यक्त हुई आत्मपरकता कभी भी सहज ही दूसरी भाषा की आत्मपरकता में संतरण करती हुई नहीं देखी गई। तभी आत्मपरकता की वैसी ही अभिव्यक्ति करने के लिए अनुवादक को मूल कृतिकार की तरह ही उसी रचना-प्रक्रिया के बीच से हो कर गुजरना पड़ता है जिससे मूल कृतिकार गुजर चुका होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि एक भाषा की आत्मपरकता दूसरे भाषा की आत्मपरकता में संतरण करने के लिए नये शाब्दिक मूर्त-विधान को तभी आत्मीय ढंग से अपनाती है जब वह नये

मूर्त-विधान में अपने को भरपूर सुरक्षित रख कर प्राणवंत होती है। इसलिए यह कहना न्यायसंगत होगा कि उपन्यास की आत्मपरकता के स्थलों पर मौलिक कृतिकार और अनुवादक एक-दूसरे के समकक्षी होते हैं। इसी बात को दूसरी तरह से अब यों देखिए। मूल कृतिकार जब अपने उपन्यास के आत्मपरक स्थलों को दूसरी भाषा में स्वयं अनूदित करता है तब उसे दुबारा उसी पहली रचना-प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है जिससे वह एक बार पहले गुजर चुका होता है। अतएव अनुवादक को भी साहित्य में वैसा ही स्थान मिलना चाहिए जैसा स्थान वहाँ मौलिक रचनाकार को मिलता है।

उपन्यास के अतिरिक्त गद्य की और विधाओं को लीजिए। ललित निबन्धों के सफल अनुवाद की समस्या कभी भी सहज ही अथवा कम कष्ट और श्रम से हल नहीं होती। यहाँ भी अनुवादक को उतने ही कष्ट और श्रम से गुजरना पड़ चुका होता है। ललित निबन्धों में मौलिक निबन्धकार अधिक-से-अधिक आत्मपरकता का उपयोग करता है। लेकिन उपयोग करते समय निबन्ध की वस्तुवत्तीय सामग्री से तनिक भी विच्छिन्न नहीं होता। होता यह है कि ललित निबन्धकार अपनी वस्तुवत्तीय सामग्री को अपनी विशिष्ट आत्मपरकता से वशीभूत कर सकने वाली कृति बना देता है। इसलिए यहाँ पर भी मौलिक ललित निबन्धकार और उसके निबन्धों का अनुवादक कृतिकार समकक्षीय ही हो सकते हैं। उस अनुवादक को ललित मौलिक निबन्धकार से कम का दर्जा देना किसी भी प्रकार से न्यायसंगत नहीं हो सकता। हाँ, उन अनुवादकों की बात और है जो पत्रकारिता के क्षेत्र में रहकर दिन-प्रतिदिन घटने वाली घटनाओं की प्राप्त सूचनाओं का अनुवाद किया करते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार से मौलिक गद्यकार नहीं कहा जा सकता। उन्हें मौलिक गद्यकार कहना रचना-धर्मिता को नकारने के बराबर होगा। मौलिकता वस्तुवत्तीय विवरण देने में नहीं होती। मौलिकता तभी मौलिकता होती है जब वह आत्मपरकता से सम्बद्ध और संपृक्त होती है और एक नई इकाई बन कर दूसरों के लिए संवेदनशील होती है।

अब कविताओं के अनुवादकों को लीजिए। यहाँ भी मौलिक कृतिकार और उसकी रचनाओं के अनुवादक कृतिकार में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। दोनों समकक्षीय कहे जा सकते हैं। कविता जागतिक वस्तुवत्ता से सम्बद्ध और संपृक्त होकर मूलतः रचना-प्रक्रिया से प्राप्त आत्मपरकता की संश्लिष्ट इकाई या यष्टि होती है। कविता में कलात्मकता की विशिष्टता भी परिव्याप्त रहती है। कविता अपने-आप में एक अविश्लेष्य अन्विति होती है। इसीलिए कहा भी गया है कि कविताओं का अनुवाद नहीं किया जा सकता। कुछ हद तक यह बात किन्हीं-किन्हीं कविताओं के विषय में ठीक हो सकती है। परन्तु आमतौर से इस बात को पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। सिद्धहस्त अनुवादकों ने अनेकानेक उच्चस्तरीय श्रेष्ठ कविताओं के वैसे ही सफल और श्रेष्ठ अनुवाद प्रस्तुत करके यह पूर्णतया प्रमाणित कर दिया है

कि कठिन-से-कठिन कविताएँ भी अनूदित होकर नई भाषा में अपना कथ्य और शिल्प भरपूर अक्षुण्ण रख सकी हैं। वास्तव में यदि इन सफल अनूदित कविताओं को नई कविताओं की संज्ञा दी जाए तो कोई अन्याय न होगा। अनूदित हो कर प्रत्येक कविता स्वभावतया नई कृति बन ही जाती है। अतएव इन अनुवादकों को भी मूल कविताओं के रचयिताओं के समकक्ष ही रखना श्रेयष्कर होगा।

अब नाटकों के अनुवादकों के विषय में भी विचार कीजिए। पहले के नाटकों में गद्य और पद्य दोनों होते थे। अब के नाटकों में मुख्यतया गद्य-ही-गद्य रहता है। ऐसे भी नाटक लिखे गए हैं जिनमें पद्य-ही-पद्य रहता है अथवा कविता-ही-कविता रहती है। दृश्य और श्रव्य को प्रस्तुत करने वाले नाटकों के अनुवाद में भी उनके अनुवादकों को उसी स्तर की मौलिकता से काम लेना पड़ता है जिस स्तर की मौलिकता से मूल नाटककारों ने काम लिया होता है। नाटक की कथावस्तु तो बन चुकी होती है और वही बन चुकी हुई कथावस्तु को वैसे ही रखता है। उसे कोई अधिकार नहीं होता कि वह उसे घटाए या बढ़ाए अथवा उसके संघटन को तोड़े या मरोड़े। नाटक के अनुवाद करने में अनुवादक को सबसे अधिक परेशानी तब उठानी पड़ती है जब वह उसके कथोपकथन के घात और प्रत्याघात को अपनी भाषा के प्रवाह में बनाए रखने के लिए लगा होता है और मार्मिकता को अपने भाषा को संप्रेषणीयता प्रदान करता होता है। यही नहीं, वचनों में अभिव्यक्त पात्रों की आन्तरिक मनोदशा की वक्रता भी अनुवादक से यही अपेक्षा करती है कि वह उस वक्रता को उसी स्तर पर अपनी भाषा में लाकर वैसे ही साधिकार अभिव्यक्ति दे। कभी-कभी नाटकीयता वस्तुवत्तीय और आत्मपरकता के दोनों स्तरों पर इतनी तीव्र और क्षुर होती है कि उसे दूसरी भाषा की पकड़ में लाना दुष्कर हो जाता है। ऐसी स्थिति में भी अनुवादक को मूल नाटककार की तरह ही मौलिकता से काम लेना पड़ता है। अलावा इसके, वचन विदग्धता, कथ्य में समाहित शिल्प से व्यक्त होने वाली सांकेतिकता और सूक्ष्म अमूर्तन (Abstraction) को अपनी भाषा मे उतारने के लिए अनुवादक को अथक मौलिक रचनात्मक संश्लेषण और विश्लेषण से काम लेना पड़ता है। जो अनुवादक यह सब काम सही प्रकार से अपने अनुवाद में सिद्ध कर लेता है वह अनुवादक उतना ही मौलिक कृतिकार होता है जितना मूल नाटककार अपने नाटक का कृतिकार होता है। प्राचीन नाटकों के अनुवाद करने में आज के अनुवादक को तब के युग के संदर्भ में मूल नाटककार के साथ जीना पड़ता है और तब की परिस्थितियों से नाता जोड़ना पड़ता है और फिर उस नाटकीय कथावस्तु को सुदूर अतीत से अपने युग में लाकर आज की युगीन भाषा में संप्रेषणीय बनाना पड़ता है। यह सब काम कोई साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। वही अनुवादक सफल होता है जो दोनों भाषाओं का मर्मज्ञ होता है और जो नाटकों के पात्रों के साथ, उनके आंगिक, वाचिक और मानसिक रूपों को अपना

कर, एक हो जाता है। इसलिए नाटकों के अनुवाद करने में अनुभवजन्य मौलिकता की शत-प्रतिशत आवश्यकता होती है। अनूदित कविता के समान ही अनूदित नाटक भी एक नई मौलिक इकाई बन कर प्रस्तुत होता है।

दर्शनशास्त्र की पुस्तकों के अनुवाद करने में भी अनुवादक को परिश्रम करना पड़ता है। उसका वह परिश्रम उनमें व्यक्त विचारों के समझने में और उनको अपनी नई भाषा में उतारने में होता है। दार्शनिक विचारों की मौलिकता का श्रेय अनुवादक की मौलिकता को नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार ज्ञान से सम्बन्धित पुस्तकों के अनुवाद में भी अनुवादक को मौलिक होने का श्रेय नहीं प्राप्त हो सकता। न्याय से सम्बन्धित पुस्तकों के अनुवाद करने में भी अनुवादक मौलिक होने का दंभ नहीं कर सकता। इन सब प्रकार की पुस्तकों के अनुवाद करने में अनुवादक केवल विद्वान् भाषाविज्ञ की तरह काम करता है। ऐसे अनुवाद करने की क्रिया की तुलना एक गिलास से दूसरे गिलास में पानी या दूध उड़ेलने की क्रिया से की जा सकती है। यहाँ भाषा शरीर का काम करती है। इसलिए अनुवाद भाषा के एक शरीर को दूसरे भाषा का शरीर देता है। इसलिए मौलिकता का यहाँ पर अभाव रहता है। इसलिए साहित्य में अनुवादकों को भी वही श्रेय और सम्मान प्राप्त होना चाहिए जो मौलिक कृतिकारों को प्राप्त होता है। तभी प्रान्त-प्रान्त की भाषाओं का रचनात्मक साहित्य हिन्दी में उपलब्ध हो सकेगा और इससे देश की आत्मीय एकता और अखण्डता स्थापित हो सकेगी। विश्व के साहित्य के ग्रन्थों का भी इसीलिए हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए ताकि देश का जन-मानस विश्व के जन-मानस से जुड़कर दुनिया को एक सूत्र में बँधा-सधा देख सके।

'विचार बोध' से साभार

''राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी हमारे देश की एकता में सबसे अधिक सहायक सिद्ध होगी, इसमें दो राय नहीं।''

- पण्डित जवाहरलाल नेहरू

सर हरीसिंह गौर की कविता

विजय बहादुर सिंह

18 जुलाई, 1946 को सर हरीसिंह गौर द्वारा स्थापित जिस सागर विश्वविद्यालय में 1 मार्च, 1947 को आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सगौरव विभागाध्यक्ष के रूप में आमंत्रित किए गए उस सागर की कहानी भी कुछ कम रोमांचक नहीं है। सहज जिज्ञासा होती है कि ऊँची-नीची पहाड़ियों, गहरी घाटियों और पठारों वाली इस सघन बस्ती का नाम सागर कैसे पड़ा? क्या यहाँ सचमुच कोई सागर है। अगर नहीं तो यह नाम फिर कैसे?

घाटियों और पठारों वाली इस धरती पर वृत्ताकार विस्तार लिये यहाँ सचमुच एक गहरा जलाशय है। शहर के मुहाने से लगा हुआ किन्तु विश्वविद्यालय और शहर के ऐन बीचोबीच एक मनोरम सरोवर। कहते हैं, अपने जवान बेटे और बहू की बलि देकर लाखा बंजारा ने इसे खुदवाया था।

लोकगीतों में किस्सा आज भी गाया जाता है कि लाखा अपने एक लाख जानवरों को लेकर इधर से आता-जाता था। पानी के अभाव में उसके जानवर प्यास के मारे मुरझा जाया करते थे। एक बार उसने तय किया कि यहाँ एक ऐसा सागर खुदवाएगा कि जानवरों की प्यास तो बुझे ही बस्ती के लोगों के जीवन में भी पानी की चमक फैल जाए। लेकिन इतना आसान साबित नहीं हुआ था लाखा बंजारा का यह सपना। खोदने वाले खोदते जाते और पानी न जाने कहाँ छुपता-भागता जाता था। तभी एक रात उसे सपना आया कि अगर बेटे और बहू की बलि दी जाए तो पानी निकलकर रहेगा। लाखा ने मन कठोर कर वैसा ही किया और पानी किसी प्रसन्न देवता की तरह प्रकट हो गया। अंचल के लोकगीतों में लाखा के बेटे और बहू के बलिदान का यह किस्सा आज भी गहरी कृतज्ञता के साथ लोकचेतना का अविस्मरणीय लोकोत्सव बना हुआ है। पूनो की रात झूले में सजे-धजे बैठे वे दोनों उसी पानी की चमक लिये प्रकट होते हैं और समूचा लोकांचल अपने इन लोक देवताओं के साकार होने पर आज भी कृतज्ञता के संगीतोत्सव में डूब जाता है।

आत्मदान सचमुच कितना गौरवमय और लोकप्रेरणाकारी होता है। *मेघदूत : *एक पुरानी कहानी में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कवि कुलगुरु कालिदास के बहाने से लिखते हैं - 'लुटाए जाओ मित्र! यही जीवन की सार्थकता है।' वे यह लिखना भी बेहद ज़रूरी मानते हैं कि 'जो

सम्पत्ति परिश्रम से नहीं अर्जित की जाती और जिसके संरक्षण के लिए मनुष्य का रक्त पसीने में नहीं बदलता वह केवल कुत्सित रुचि को प्रश्रय देती है। सात्विक सौंदर्य वहाँ है जहाँ चोटी का पसीना एड़ी तक आता है।' ऐसी कमाई हुई संपदा आत्मदान बनकर जब लोकमंगल के लिए न्यौछावर होती है तभी अपनी सार्थकता साबित कर पाती है।' सागर का विश्वविद्यालय भी डॉ. सर हरीसिंह गौर के इसी आत्मदान की एक बेजोड़ कहानी है।

माटी के सपूत हरीसिंह गौर ने अपने असाधारण पौरुष और पसीने से जीवन भर जो संपदा एकत्र की थी उसे विनम्र आत्मदान मान उन्होंने अपनी उसी धरती और उसके लोगों के लिए न्यौछावर कर दिया जिनके बीच वे जन्मे, पले और अपने बेजोड़ सपनों के साथ बढ़े थे। कहते हैं गौर साहब का परिवार पीढ़ियों पहले अवध के बैसवाड़ा अंचल से चलकर बुंदेलखण्ड की इस धरती पर आ बसा था। इस धरती का एक गौरवमय इतिहास कविवर पद्माकर और मायूस सागरी जैसे शायरों ने तो दूसरा ख्यातिलब्ध हिन्दी कोविद कथाकार जहूर बख्श की स्मृतियों से भी जुड़ा हुआ है।

सन् 1870 ई. में जन्मे बालक हरीसिंह ने जब मिडिल पास कर लिया तो आगे की पढ़ाई के लिए उन्हें माता-पिता और अपनी बहुत छोटी बहन को छोड़कर जबलपुर जाना पड़ा। कवि-कथाकार, विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति शिवकुमार श्रीवास्तव लिखते हैं कि सागर से वे 'दुमंजिली ऊँट गाड़ी में करेली गए और करेली से जबलपुर। शायद उस दिन उस किशोरवय में उन्होंने मन में इस दर्द को गहराई से महसूस किया होगा कि अगर यहाँ शिक्षा के साधन होते तो उन्हें इस प्रकार अपने परिवार से बिछुड़ने की ज़रूरत नहीं पड़ती। तभी उनके मन में यह संकल्प जागा होगा कि अगर मैं सक्षम हो सका तो सागर में शिक्षा की मशाल जलाऊँगा। किशोरावस्था के अपने इसी पवित्र संकल्प को लेकर वे जबलपुर गए थे। बाद में तो वे इतने उद्भट विधिवेत्ता और विधिक ग्रंथों के लेखक के रूप में जाने गए कि दुनिया भर के कानून-पण्डितों और वकीलों के लिए प्रमाण से माने जाने लगे। इंग्लैण्ड पहुँचकर उन्होंने अपनी प्रतिभा की जैसी धाक जमाई उसका किस्सा भी कुछ कम रोचक नहीं है। यह वही सर हरीसिंह गौर थे जो दिल्ली और नागपुर विश्वविद्यालय के मान्य उपकुलपति और शिक्षाशास्त्री के रूप में लोक-प्रतिष्ठित और लोक समादृत हुए।

अपनी कई चर्चित कानूनी किताबों के साथ उन्होंने उपन्यासों और कविताओं की रचना भी की। *सेवेन लाइव्ज़* नाम से आत्मचरित भी लिखा। डॉ. गौर की असामान्य मेधा और विलक्षण प्रतिभा में कठोर व्यवहारपरकता और कोमल संवेदनशीलता का ऐसा विलक्षण संयोग था कि वे अपने जीवन के सबसे महान सपने और अपने लोगों के जीवन के कठिन यथार्थ की लगभग अलंघ्य-सी लगने वाली खाई को अपने पौरुष से ठीक उसी तरह पाट सके जैसे कि कभी लाखा बंजारा ने पाटा था।

सन् 1944 में सागर लौटकर जब उन्होंने विश्वविद्यालय की स्थापना के अपने बरसों पुराने संकल्प को दृढ़ निश्चय में बदलने की पहल की तो - 'पहले एक मीटिंग लाखा बंजारा द्वारा खुदवाए विराट तालाब के इसी चकराघाट पर ली थी जिसमें उन्होंने कहा था कि विश्वविद्यालय ऐसा होना चाहिए कि उससे निकलने वाला आदमी आत्मनिर्भर हो। अपनी बात कहने के लिए एक बहुत छोटा-सा उदाहरण उन्होंने लिया था। उस समय पार्कर पेन चलने लगा था। उसकी स्याही आती थी उस जमाने में चार आने की छोटी बोतल, आठ आने की बड़ी बोतल। डॉ. हरीसिंह गौर ने ये कहा कि ये स्याही दो पैसे में बनती है। शेष मुनाफा है। मैं अगर तकनीकी शिक्षा देकर यहाँ इस तरह के छात्र पैदा कर सकूँ कि वे इस तरह की स्याही से लेकर दुनिया की हर चीज़ बना सकें, जिसकी समाज में ज़रूरत पड़ती है तो किसी को दरखास्त देकर नौकरी माँगने की ज़रूरत नहीं होगी।' 18 जुलाई, 1946 को स्थापित सागर विश्वविद्यालय उनके इसी आत्मदानी भावना की देन था। यह कुछ-कुछ वैसा ही पवित्र और महान सपना था जैसा कभी लाखा बंजारा ने देखा था। लाखा ने बस्ती के लोगों को पानी के सौंदर्य का महत्त्व और रहस्य समझाया था, और डॉ. गौर ने लोगों को विद्या-पौरुष से उद्योगी बनकर आत्मनिर्भर जीवन जीने की कला सिखाई। डॉ. गौर में भावना और आत्मदानी पौरुष का अद्भुत संयोग था। वे कविता-संग्रहों, उपन्यासों और *सेवेन लाइव्ज़* जैसे आत्मचरित के भाव-प्रवण कृतिकार थे ही। कवि-कथाकार शिव कुमार श्रीवास्तव ने भाव-विभोर होकर उनके बारे में यह भी लिखा है कि - 'अंतिम क्षण तक वो कविता लिखते रहे और उनकी सबसे बड़ी कविता अगर कोई है तो यह विश्वविद्यालय है। गौर साहब की अंतिम, शाश्वत, चिरंतन, जीवंत, स्पंदित होने वाली कविता - यह सागर विश्वविद्यालय है।' आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी के अठारह वर्ष इसी साकार 'कविता-क्षेत्र' में बीते।

सागर विश्वविद्यालय के मनोरम नैसर्गिक परिवेश का वर्णन करते हुए कवि राजेंद्र अनुरागी अपनी पुरानी यादों के सहारे जैसे कोई वृत्तचित्र रच रहे हों - 'सागर में विश्वविद्यालय के खुलने से इस पूरे क्षेत्र में एक नई चेतना-सी ही दौड़ गई थी।' मकरोनिया और गंभीरिया की पहाड़ियाँ, जहाँ उन दिनों सागर विश्वविद्यालय हुआ करता था, शहर से काफी दूर थीं और शहरिअत से भी। (वहाँ पहले कभी मिलीटरी रहा करती थी।) विश्वविद्यालय के संस्थापक डॉ. सर हरीसिंह गौर, जिन्हें लोग 'गौर बब्बा' कहते थे, ने जमीन के साथ-साथ वे सब बैरकें और किट बॉक्स वगैरह भी प्राप्त कर लिये थे जो मिलीटरी वहाँ छोड़ गई थी। उन्हीं बैरकों को थोड़ा-बहुत फेर बदलकर हॉस्टल बना दिया गया था और उन्हीं में कक्षाएं भी लगती थीं। गौर बब्बा जो अपनी स्वार्जित करोड़ों की संपत्ति सागर विश्वविद्यालय को दान दे गए थे अपने व्यावहारिक जीवन में मशहूर बारीक आदमी थे। एक पैसे की भी फिजूलखर्ची बब्बा को कतई बर्दाश्त नहीं थी। बस, बब्बा की मुशी पुस्तकों और प्रोफेसरों भर के नाम पर ढीली होती थी।

अधिक से अधिक वेतन और सुविधाएं देकर वे हर विषय के गौरव आचार्यों को सागर ले आए थे।' राजेंद्र अनुरागी पुलकित हो याद करते हैं - 'उन दिनों का सागर विश्वविद्यालय एक बड़ा ही बहुरंगी छात्र मेला था। सागर में विश्वविद्यालय का खुलना ही एक घटना थी।'

पराधीनता के उन दिनों की शिक्षा-दृष्टि और विद्या-दर्शन क्या था अगर सोचें तो उसके केंद्र में सचमुच के आचार्यगण और विद्याखोजी जिज्ञासु छात्रों के समूह थे। खुद नन्ददुलारे वाजपेयी काशी के इसी वातावरण और परम्परा की उपज थे। छात्र के रूप में जिज्ञासाओं से भरे हुए, विद्या-साधक के रूप में कठोर अध्यवसायी और लक्ष्यबद्ध। आचार्य के रूप में विरल विद्या-व्यसनी सर्जक, प्रगल्भ भावोन्मेषी और प्रखर आलोचक के रूप में अति चर्चित और ख्यात। ऐसे न होते तो डॉ. हरीसिंह गौर की निगाह में वे जँच ही कैसे पाते। डॉ. गौर की निगाह इससे कम पर तो रीझती ही न थी। वे सचमुच उन लोगों में से थे जो विद्या की पवित्रता और उसकी गरिमा के निर्द्वन्द्व हामीकार हुआ करते थे - *या कुंदेंदु तुषार हार धवला या शुभ्र वस्त्रावृत्ता* की अन्तर्ध्वनियों को समझते थे। मैली चीकट सूचना-विकटता और संदर्भ भारवाही जड़ आचार्यों और विद्या-पशुओं की विपुल भीड़ में घुसकर वे जिन तुषार धवल विद्या मनीषियों को आमंत्रित कर सागर लाए थे उनकी सूची भी असाधारण थी - 'स्वनामधन्य आचार्य पं. नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. दयाल शरन श्रीवास्तव, डॉ. रामदेव मिश्र, डॉ. अक्षय कुमार भट्टाचार्य, डॉ. भवालकर, डॉ. वी. आप्टे, डॉ. अमरेशदत्त, डॉ. चिपलूनकर, डॉ. स्वामी नाथन, डॉ. एस.बी. सक्सेना, प्रो. राजनाथ पांडे, डॉ. मन्नूलाल मिश्र, डॉ. डब्ल्यू.डी. वेस्ट, प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी आदि। एक से बढ़कर एक प्रकाश-स्तंभ। विश्वविद्यालय के प्रतीक चिह्न जिसके नीचे अंकित थे ये संदेशवाही शब्द-'लक्स एट लूस'। प्राचीन ग्रीक भाषा के इस पद का भाष्य करते हुए हिन्दी के विवादास्पद संस्मरणकार और आचार्य वाजपेयी के छात्र कांति कुमार लिखते हैं - 'प्रकाश जो ज्योतित तो करता है किन्तु चकाचौंद पैदा नहीं करता। डॉ. गौर की कामना के ये शब्द भले ही ग्रीक भाषा के मुहावरे में हों किन्तु इनका गहरा आशय तो हमारी उसी ऐतिहासिक विरासत की याद दिलाता है जिसका भाव वाग्देवी की स्तुति के इन शब्दों में पिरोया हुआ है - *'श्वेत पद्मासना... निःशेष जाड्यापहा'* - जो श्वेत आसन वाली और जैसी भी जड़ता हो, उसका नाश करने वाली है।

नीर-क्षीरकारी विवेक की अधिष्ठात्री यह वाग्देवी जैसी निर्दोष मति और पवित्र प्रज्ञा लिए हुए है उससे वाजपेयी के कवि मित्र निराला की इन पंक्तियों का कहीं गहरा साम्य है-'काट अंध उर के बंधन-स्तर/बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर/कलुश-भेद तम हर प्रकाश भर/जगमग जग कर दे।' पं. नन्ददुलारे वाजपेयी ने इन पंक्तियों के सन्दर्भ में हम छात्रों से एक दिन कक्षा में कहा था सरस्वती प्रकाश की देवी है और वह किसी भी अंधेरे की मित्र नहीं है। किन्तु इसके लिए चाहिए वह विनयशीलता जिसे परम्परा 'शील' के नाम से पुकारती है, जिसके बगैर सारी भौतिक और भोगवादी चमक बेमानी है। अपनी कविता 'सरस्वती पुत्र' में अज्ञेय ने इस ओर सूक्ष्म संकेत करते हुए लिखा है -

''मंदिर के भीतर वे सब धुले-पुँछे, उघड़े-अवलिप्त
खुले गले से
मुखर स्वरों में
अति-प्रगल्भ
गाते जाते थे रामनाम।
भीतर सब गूँगे, बहरे, अर्थहीन जल्पक,
निर्बोध, अयाने, नाटे...''

अकेले अज्ञेय ही क्यों, प्रतिबद्ध कवि नागार्जुन की इन पंक्तियों पर भी जरा गौर करें -

''भौतिक भोगमात्र सुलभ हों भूरि-भूरि
विवेक हो कुंठित।
तन हो कनकाभ, मन हो तिमिरावृत्त!
कमलपत्री नेत्र हों बाहर-बाहर
भीतर की आँखे निपट निमीलित।
यह कैसे होगा?
यह क्यों कर होगा?''

विद्या का क्षेत्र भीतर की इन्हीं आँखों को खोलने वाला क्षेत्र है। विश्वविद्यालय खोलने के पीछे गौर साहब की इससे कम मंशा तो क्या रही होगी। अन्ततः वे एक खांटी भारतीय थे जिनकी निगाह दुनिया के तमाम छोरों तक जाती थी। और उन महात्मा गाँधी तक भी जो स्वयं एक ज्योति स्तंभ थे।

सन् 1931 में महात्मा गाँधी ने एक अँग्रेज अधिकारी को अपने पत्र में लिखा कि ब्रिटिश शासकों ने भारतीय शिक्षा को पहले तो उसकी अपनी असली जड़ों से उखाड़ा फिर एक ऐसी व्यवस्था और ढांचा लेकर आए जिसके केन्द्र में भौतिक साजो-समान कहीं ज्यादा अहमियत रखते थे जैसे कि बिल्डिंग आदि, जबकि भारत की परम्परागत शिक्षा केन्द्र में सच्चे आचार्य की महनीय उपस्थिति प्राथमिक और मूलभूत अपेक्षा मानी जाती थी।

डॉ. सर हरीसिंह गौर ने शिक्षा के औपनिवेशिक ढाँचे को प्रकटतः तो कोई चुनौती नहीं दी किन्तु उस स्थल भौतिकवाद और रूपरंग वाली चमक-दमक के प्रति भी अपनी कोई खास अभिरुचि प्रदर्शित नहीं की। सच है डॉ. गौर ब्रिटिशों की शिक्षा-नीति के उस टीमटाम वाले ढाँचे को लेकर भी बहुत अभिभूत नहीं थे। सम्भवतः उन्हें अपने कैशोर्य संघर्ष याद रहे हों और यह मंत्र वाक्य भी - *'सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतो सुखम्।'* विद्या तो सचमुच अन्तर्दृष्टि है। आत्मदान भी। सागर के वाजपेयी इन्हीं आत्मदानी डॉ. गौर की खोज थे।

डॉ. गौर के बाद कुलपति होकर आए डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी का यह कथन आज के समय में तो और भी महत्त्वपूर्ण और अति प्रासंगिक हो उठा है - 'यूनिवर्सिटी इज़ नोन नाट बाई द नंबर ऑफ स्टुडेंट्स इट हैज, बट बाई द क्वालिटी ऑफ इट्स टीचर्स।' इसमें आज और कुछ जोड़ना चाहें तो यही कि अपने उन होनहार छात्रों के चलते जिनमें विद्या की परम्परा लज्जित न होकर विकास पाती है और हमेशा गर्वोन्नत बनी रहती है। आजादी के आसपास ज्योति और प्रकाश का अगर कोई मतलब था तो यही कि दीपक से दीपक जलता चले। दीपदीप्त दीक्षा की एक अखण्ड और अनवरत परम्परा, प्रकाशमान ज्योति-स्तंभों की परम्परा -

सतगुरु की महिमा अणत अणत किया उपकार।
लोचन अणत उघाड़िया अणत दिखावण हार।।

\- *कबीर*

काशी के नन्ददुलारे वाजपेयी अपने आचार्यत्व का प्रकाश लेकर इसी क्षेत्र में आए थे। मकरोनिया और गंभीरिया की पहाड़ियों पर अपनी आँखे खोलता यह शिशु विश्वविद्यालय आधुनिक चमक-दमक वाले रूपरंग से सचमुच कितना दूर था। फिर भी एक भोर यहाँ हो रही थी। उम्मीद का एक सूरज अपनी गुनगुनी ऊष्मा का सौंदर्य और प्रकाश बिखेरने लगा था। न केवल सागर, दमोह, कटनी, जबलपुर बल्कि खण्डवा, बुरहानपुर, रायपुर, बिलासपुर तक इसका उजाला फैलता ही गया था। बाद में तो समूचा मध्यप्रदेश इसकी ज्योति-क्षेत्र में आ गया। विश्वविद्यालय के पूर्व छात्र डॉ. कांति कुमार ठीक ही लिखते हैं - 'डॉ. हरीसिंह गौर ने तमसो मा ज्योतिर्गमय का वरदान दिया।' किन्तु यह हिदायत से भरा संदेश भी - 'जेंटलमैन। व्हेन आई डाई आई शैल सी टु इट दैट युनिवर्सिटी इस नॉट क्लोज़्ड।' डॉ. कांति कुमार ने डॉ. गौर की बातों का सार लिखा, जीत छुट्टी का मौका नहीं होता। डॉ. गौर शायद इससे भी आगे का कोई संकेत दे रहे थे - याद रखना जीवन की कोई भी साँस छुट्टी नहीं लेती -'शम्अ हर रंग में जलती है सहर होने तक।' यह डॉ. गौर ही थे जो सेना के परित्यक्त बैरकों में जैसे मसान में धूनी रमाने का संकल्प लेकर चल रहे थे और अपने प्यारे शहर सागर को विश्व के सारस्वत मानचित्र पर एक और ज्योति केंद्र के रूप में दर्ज कराना चाह रहे थे।

तेजस्वी पत्रकार और उद्भावनाशील आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी जब डॉ. हरीसिंह गौर द्वारा सागर आमंत्रित किए गए तब चालीस साल के थे। हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी और जयशंकर प्रसाद जैसी उनकी चर्चित समीक्षा कृतियाँ शुक्लोत्तर आलोचकों में उन्हें हरावल आलोचक के अग्रिम पंक्ति में प्रतिष्ठित कर चुकी थीं। वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पूना अधिवेशन की साहित्य सभा का सभापतित्व (1940) कर चुके थे। *सूरसागर* और तुलसी के *रामचरितमानस* का क्रमशः काशी नागरी प्रचारिणी सभा और गीताप्रेस गोरखपुर से न केवल सुसम्पादन किया था बल्कि सूर और तुलसी के काव्य और सृजन प्रतिभा पर कई एक

मौलिक स्थापनाएँ कर समीक्षाएँ भी लिख चुके थे। इतना ही क्यों वे प्रसाद, निराला, अंचल, जानकी वल्लभ शास्त्री की पुस्तकों की भूमिका लेखक के रूप में भी ख्यात थे। फिर उन दिनों (1946-47) के हिसाब से तो वे पारम्परिक साहित्यशास्त्र-पूर्व और पश्चिम-के साहित्य चिंतन के अधिकारी पण्डित और नए साहित्य-सृजन के ऐसे आलोचक थे जिनकी प्रखरता और तेजस्विता में अद्‌भुत आकर्षण था।

मूल सागर निवासी और विश्वविद्यालय के एक पुराने छात्र प्रोफेसर आर.डी. मिश्र के अनुसार, 'डॉ. गौर ने वाजपेयी की प्रतिभा, विद्वता और गरिमावान व्यक्तित्व की जानकारी ली थी... मेधावी समीक्षक की उनकी विशेषता भी उन्हें ज्ञात थी। व्यक्तित्व के एक-एक बिंदु को परखकर उन्होंने वाजपेयी को सम्मानपूर्वक बुलावा भेजा था। इतना ही नहीं, उनकी गरिमा के अनुरूप विश्वविद्यालय परिसर का वह 'बंगला' आवास के रूप में उन्हें दिया गया था जो डॉ. गौर की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ था। पूर्व में जब वहाँ सेना रहती थी तब सेना के सर्वोच्च अधिकारी के नाम पर वह अलाट होता था।'[1]

सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का अध्यक्ष बनकर वाजपेयी जी का आना सागर वालों के लिए एक हलचल पूर्ण सुखद घटना थी। कांति कुमार के शब्दों में, 'छायावाद की लहरें तो आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के आगमन के साथ ही सन् 1946 से सागर के साहित्यिक परिवेश को आंदोलित कर रही थीं।'[2] डॉ. गौर खुद वाजपेयी जी को लेकर गहरी उम्मीदों और अपेक्षाओं से भरे हुए थे। वाजपेयी जी की उनसे एक मुलाकात का जिक्र रामेश्वर गुरु ने किया है - 'मैं वाजपेयी के साथ मिलने गया। पूरी बातें हिन्दी में हुईं, बीच-बीच में बुंदेली और अवधी के लहजे के साथ मनोरंजन के लिए कुछ बोल लेते थे। हिन्दी विभाग को पूरी तरह गौरवमय और प्रतिभा सम्पन्न बनाने का उनका विशेष आग्रह था।'[3] वाजपेयी जी भी अपेक्षा के अनुसार हिन्दी विभाग को 'अध्ययन-अध्यापन का, शोध का और मौलिक विचारशीलता का देश-प्रसिद्ध केन्द्र बनाने के लिए कृतसंकल्प थे।'[4] आचार्य वाजपेयी यह कर सके कि नहीं, इसका प्रमाण वह इतिहास है जो अभी भी अमिट है।

यह कालखण्ड देश की गुलामी को पार कर आज़ादी के उजाले का तो है ही महानायक गाँधी, राष्ट्रनायक नेहरू, आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण, डॉ. राममनोहर लोहिया और भूदानी संत विनोबा भावे का भी है। उत्कृष्ट बौद्धिकों में डॉ. राधाकृष्णन आदि जैसों का भी। यह वह काल खण्ड भी है जब भारत जैसा राष्ट्र दो खण्डों में विभाजित हो गया और सांप्रदायिकता की दावाग्नि में लाखों लोग भून डाले गए। खुद राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की हत्या ने कुछ बरसों के लिए देश को जैसे किसी अँधेरी गुफा में धकेल दिया हो। न केवल हिन्दी वरन् उर्दू आदि भाषाओं के साहित्य में इससे एक गहरा अवसाद और आस्थागत छिन्न-भिन्नता सिर उठाने लगी। दूसरी ओर वह पश्चिम जो भारत के सुराजियों के हाथों पराजित हो चुका था,

अपनी राजनीतिक सत्ता को अपदस्थ किए जाने के बावजूद वह फिर इस घात में लग गया था कि असली जय-पराजय शासन के बने रहने या मिट जाने से नहीं किसी राष्ट्र की मानसिकता और उसकी चेतना को वशीभूत कर लेने से तय होती है। पश्चिम ने अब राजनीतिक तौर पर भारत पर प्रत्यक्ष शासन करने का अपना मंसूबा छोड़ दिया था। बदले में अब उसकी सारी इच्छा भारत के लोगों की मानसिकता और उसे प्रकट करने वाली चेतना को अपने काबू में कर लेने की थी।

नन्ददुलारे वाजपेयी का आजादी के बाद एक साहित्यालोचक के रूप में ऐतिहासिक महत्त्व यह भी है कि अपने अंतिम शब्द तक वे इस पश्चिमी हमले का जवाब देते रहे। यही नहीं, वे पश्चिम की इस सांस्कृतिक विजय वाले अभियान से अपने लोगों को न केवल सावधान करते रहे बल्कि उस महान भारतीय चिन्तन परम्परा की याद भी अपने उन प्रतिभाशाली सर्जकों को दिलाते रहे जो जाने-अनजाने पश्चिम से प्रेरित और अभिभूत थे। आज़ादी के बाद हिन्दी आलोचना अगर अपने 'स्वदेश' में रह सकी तो सिर्फ आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी के कारण जिन्होंने बार-बार अपने समकालीन को सचेत करते हुए लिखा- 'वेद और उपनिषद् से लेकर बुद्ध और गाँधी तक भारतीय चिन्तन और जीवन-दर्शन अपनी ऊर्जा से विकसित और पुष्पित होता रहा है। इन सबको अपनी आत्मा में स्थान देकर अपने स्वतंत्र चिन्तन से कुछ निर्माण करके ही हम बुद्धिवादी निर्माता और भारतीय लेखक होने का दावा कर सकते हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त आधुनिकता ही हमारे जीवन और साहित्य का वास्तविक संस्कार कर उसे सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय कहलाने का गौरव प्रदान कर सकती है।'

उल्लेखनीय है कि सागर आने के पहले से श्री वाजपेयी साािहत्य की इस क्रांतिकारी जातीय चेतना से जुड़कर कलावादियों और प्रयोगवादियों से टकरा चुके थे। सच तो यह कि आजादी से पहले विचार और दृष्टि के धरातल पर जो काम प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, प्रसाद-निराला आदि कर रहे थे आज़ादी के बाद उसे जिस एक व्यक्ति ने गंभीर सांस्कृतिक चुनौती के रूप में लिया और किया वह नन्ददुलारे वाजपेयी ही थे।

अपने इस महान आचार्य को याद करते हुए डॉ. बच्चन सिंह ने गर्व से पुलकित होकर अपने एक पत्र में मुझे लिखा है कि 'हिन्दी आचार्यों में वे अकेले थे जिन्होंने पश्चिम के महत्त्वपूर्ण सौंदर्य-चिंतक बोंशांके का सौंदर्यशास्त्र पढ़ा था।

अपने *हिन्दी साहित्य का इतिहास* के समालोचना खण्ड में आचार्य रामचन्द्रशुक्ल जो एक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय नाम छोड़ तो गए हैं किन्तु अपने गुस्से और झुंझलाहट को वे फिर छिपा भी नहीं पाए हैं, वह कोई और नहीं स्वयं उनके छात्र नन्ददुलारे वाजपेयी का ही है जिन्होंने भारत साप्ताहिक के सम्पादन काल (1930 सितंबर से 10 नवंबर 1932) में वृहत्त्रयी की स्थापना ही नहीं की, स्वयं आचार्य शुक्ल पर भी जबर्दस्त लेख लिखे।'

मजेदार बात तो यह कि जो शुक्ल जी इतिहास के समालोचना खण्ड में, कृष्णशंकर शुक्ल, प्रोफेसर सत्येंद्र, प्रसाद की काव्य साधना वाले रामनाथ लाल सुमन और अपने प्रिय छात्र और मीरा की प्रेम साधना के लेखक पं. भुवनेश्वर मिश्र माधव का उल्लेख करते हैं, आगे के अन्य नामों में कृष्णशंकर शुक्ल के सुकवि समीक्षा में लिखे गए समीक्षात्मक निबन्धों की चर्चा करना ज़रूरी मानते हैं, वही शुक्ल जी 1930-32 से उभार लेने वाले पं. नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे अति प्रखर और मौलिक समीक्षकों का नाम तक नहीं लेते। किन्तु नाम न लेते हुए भी शुक्ल जी जिस एक आलोचक पर सबसे ज्यादा पैराग्राफ वहाँ लिखते हैं, वह कोई और नहीं, यही नन्ददुलारे वाजपेयी हैं। शुक्लजी की भाषा का असंतुलन यहाँ साफ नज़र आता है - 'ठीक ठिकाने से चलने वाली समीक्षाओं को देख जितना संतोष होता है, किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असम्बद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ही ग्लानि होती है। यह सजावट अँग्रेजी के अथवा बंगला के समीक्षा क्षेत्र से कुछ विचित्र कुछ विदग्ध, कुछ अतिरंजित चलते शब्द और वाक्य ला-लाकर खड़ी की जाती है। कहीं-कहीं तो किसी अँग्रेजी कवि के सम्बन्ध में की हुई समीक्षा का कोई खण्ड ज्यों-का-त्यों उठाकर किसी हिन्दी कवि पर भिड़ा दिया जाता है। ऊपरी रंग-ढंग से तो ऐसा जान पड़ेगा कि कवि के हृदय के भीतर सेंध लगाकर घुसे हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झाँक रहे हैं, पर कवि के उद्धृत पद्यों से मिलान कीजिए तो पता चलेगा कि कवि के विविध भावों से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं। पद्य का आशय या भाव कुछ और है आलोचक जी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे हैं। कवि के मानसिक इतिहास का एक आरोपित इतिहास तक - किसी विदेशी कवि के मानसिक विकास का इतिहास कहीं से लेकर-वे सामने रखेंगे, पर इस बात का कहीं कोई प्रमाण न मिलेगा कि आलोच्य कवि के पचीस-तीस पद्यों का भी तात्पर्य उन्होंने समझा है। ऐसे आलोचकों के शिकार 'छायावादी' कहे जाने वाले कुछ कवि भी अभी हो रहे हैं। नूतन शाखा के एक अच्छे कवि हाल ही में मुझसे मिले जो ऐसे कद्रदानों से पनाह माँगते थे। अब सुनने में आ रहा है कि इस ढंग से ऊँचे हौसले वाले दो-एक आलोचक तुलसी और सूर के चारों ओर भी ऐसा ही चमचमाता वाग्जाल बिछाने वाले हैं।'

यही नन्ददुलारे वाजपेयी अब काशी से चलकर उसी सारी गौरव-स्मृतियों के साथ सागर पहुँचे थे। निस्संदेह उनके इस पहुँचने में तत्कालीन सेंट्रल प्रॉविंस के गृहमंत्री और *कृष्णायन* काव्य के रचयिता डॉ. द्वारका प्रसाद मिश्र का भी परोक्ष योगदान नकारा नहीं जा सकता। ये वही द्वारिका प्रसाद मिश्र हैं जो बाद में सागर विश्वविद्यालय के कुलपति बने, फिर मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री और अब *'प्राचीन भारत का आद्य इतिहास'* तथा *'लिविंग इन एरा'* जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के लेखक के रूप में जाने जाते हैं।

3 मार्च, 1947 में सागर ज्वाइन करने के बाद वाजपेयी जी जो चिट्ठियाँ सेंट्रल प्रॉविंस के तत्कालीन गृहमंत्री पं. द्वारका प्रसाद मिश्र को नागपुर के पते से वे लिखते हैं उनको पढ़ते हुए यह अनुभव होता है कि श्री वाजपेयी विश्वविद्यालय की प्रारंभिक स्थितियों और उसके समृद्ध विकास को लेकर न केवल गहरी दायित्व-सजगता से भरे हुए हैं बल्कि चिंतित और आशंकित भी हैं। इन पत्रों से यह जानकारी भी मिलती है कि द्वारका प्रसाद मिश्र से उनका परिचय पुराना-शायद इलाहाबाद के दिनों का है। फिर मिश्रजी भी तो उसी बैसवाड़े के हैं इसलिए अपनत्व और अधिकारभाव भी इन पत्रों में कुछ कम नहीं है।

1 मई, 1948 को लिखे पत्र की कुछ बातें इस प्रकार हैं - 'आपके पिछले पत्र से मेरी मनः स्थिति का समाधान नहीं हुआ वरन आशंका बढ़ ही गई। सम्भवतः इसका कारण यह है कि मैं अपने पत्र में यहाँ की स्थिति स्पष्ट नहीं कर सका, न कोई निश्चित सुझाव रख सका।' वाजपेयी जी आगे के अंशों में अपनी चिंताओं को 'प्रान्त की नवीन संतति और नूतन समाज की निर्माण-समस्या' से जोड़ते हुए से आग्रह करते हैं कि 'प्रान्त के प्रत्येक शिक्षार्थी के प्रति, उसके आत्मविकास के प्रति उनका जो दायित्व है उसका पालन करें।' वे यह भी याद दिलाते हैं कि विश्वविद्यालय में अनेक प्रान्तों के अध्यापकों का समागम हुआ है - विशेषतः मेरे जैसे उन व्यक्तियों की मनोभावना और स्थिति का विचार कीजिए जो यह विश्वास लेकर आए हैं कि मिश्र जी और शुक्ल जी (तत्कालीन मुख्यमंत्री पं. रविशंकर शुक्ल-सं.) के इस प्रान्त में योग्यता और नैतिक नियमों का तिरस्कार तो न हो सकेगा क्योंकि ये दोनों ही व्यक्ति योग्यता और नैतिक आधार पर ही उच्चतम स्थानों पर पहुँचे हैं। क्या हमारी उक्त कल्पना और आशा का अपघात ही होकर रहेगा?'

पत्र में अंकित अनेक विवरणों से लगता है कि सर हरीसिंह गौर कभी-कभी अपनी इच्छाओं को सर्वोपरि मानते हैं और विधान आदि की परवाह नहीं करते, पैसे की बचत के नाम पर ढेर सारी ज़रूरी और अच्छी बातों को भी दरकिनार कर देते हैं। कुछ लोग क्षणिक अधिकार लालसा की पूर्ति के लिए विश्वविद्यालय को अपनी राजनीति और सत्ता का अखाड़ा बनाना चाहते हैं और दिन-रात इस षड्यंत्र में लिप्त रहते हैं कि कैसे देशव्यापी ख्याति वाले विद्वानों को अपमानित करके खदेड़ा जाए आदि-आदि। वाजपेयी जी इसी पत्र में सुझाते हैं कि प्रान्तीय सरकार कोई अपना एक प्रतिनिधि नियुक्त करे जो उसके द्वारा बनाए हुए विश्वविद्यालय के विधान की पूर्ति की जिम्मेदारी ले। यह प्रतिनिधि विश्वविद्यालय तथा उसके वाइस-चांसलर के निजी (Informal) सलाहकार के रूप में रहे और प्रान्तीय सरकार के आदेश पर कार्य करे। अन्त में वाजपेयी जी लिखते हैं - 'विश्वविद्यालय की निर्माणावस्था में जिस शांति और सहयोग के वातावरण की आवश्यकता होती है उसका नितांत अभाव हो रहा है। इस अवस्था से चिंतित

होकर विश्वविद्यालय के सुचारु संचालन के उद्देश्य से ही यह लम्बा पत्र लिख रहा हूँ।' इसी पत्र में वे यह सुखद सूचना भी देते हैं - 'मुझे रहने के लिए अब ठीक स्थान मिल गया है जिससे मेरी व्यक्तिगत असुविधा दूर हो गई है। यदि उसी प्रकार विश्वविद्यालय पर छाया हुआ यह अव्यवस्था-अंधकार भी दूर हो जाए तो मुझे अपूर्व प्रसन्नता प्राप्त हो।'

आधुनिक साहित्य में संगृहीत द्वारका प्रसाद मिश्र के *कृष्णायन* पर लेख का जिक्र भी अन्ततः यहीं है - *कृष्णायन* पर मेरा लेख सम्भवतः इस मास में छप जाएगा। यदि आप जून आरम्भ में पचमढ़ी में मिल सकें तो मैं वह लेख भी आपको दिखा दूँगा। आपका नन्ददुलारे वाजपेयी।'

विश्वविद्यालय के भावी स्वरूप और विकास, उसके अन्तः परिसर की स्वच्छता और पवित्रता को लेकर वे कितने चिंतित और आशंकित हैं, कितनी जिम्मेदारी महसूस करते हैं, इसे इन्हीं, द्वारिका प्रसाद मिश्र को लिखे दो अन्य- क्रमशः 23 मार्च 49 और 14 अप्रैल 49 के पत्रों में देखा जा सकता है। उनकी मुख्य चिंता तो यह है कि सागर विश्वविद्यालय क्या काशी हिंदू विश्वविद्यालय जैसा नहीं बन पाएगा? क्यों नहीं अब तक विश्वविद्यालय में किसी उपयुक्त नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा हो सकी है? वे आगाह करते हैं कि 'आरम्भ में जो साँचा बन जाता है, वही भविष्य का नियामक होता है।' उन्हें निरन्तर एक ऐसे प्रभावशाली केन्द्रीय व्यक्तित्व का अभाव खटकता रहता है जो राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न हो, उच्च चरित्र का हो। जिसके नैतिक व्यक्तित्व की छाप छात्र-छात्राओं के जीवन पर पड़े।

स्पष्ट ही वाजपेयी जी जिस काशी हिन्दी विश्वविद्यालय को छोड़कर आए थे, सागर में उसका प्रतिरूप देने के आकांक्षी थे। इस बात को वे पत्र में छिपाते भी नहीं-'सम्भव है, पूज्य मालवीय जी महाराज की संस्था से सम्बद्ध होने के कारण मैं किसी असाधारण या अनहोनी वस्तु का स्वप्न देखता होऊं, पर कुछ भी हो, जो बात कहने की प्रेरणा हुई उसे कहना मेरा कर्त्तव्य है।' अन्त में वे फिर मिश्र जी को याद दिलाते हैं - 'उदात्त आदर्श की बात ही क्या, यहाँ तो साधारण राष्ट्रीय चेतना की भी बेहद कमी है।'

अपने इस कथन का खुलासा करते हुए वे यह स्पष्ट करते हैं कि विश्वविद्यालय की एक स्पष्ट भाषानीति होनी चाहिए। अँग्रेजी अपनी जगह पढ़ाई-लिखाई जाए किन्तु 'सार्वत्रिक शिक्षण देश-भाषा'-हिन्दी (हिन्दुस्तानी) में सम्पन्न हो। अध्यापक भी योग्य, राष्ट्रीय चेतना - सम्पन्न, चरित्रवान तथा राष्ट्रीय शिक्षण आदर्श पर आस्था रखने वाले नियुक्त किए जाएं।

वाजपेयी जी यहाँ इन पत्रों में अपने वेतन की अनिश्चितता का जिक्र भी छेड़ते हैं किन्तु लम्बे लिखे पत्र में उनकी ज्यादातर चिंताएँ नवजात विश्वविद्यालय के उत्कृष्ट स्वरूप-विकास को

लेकर हैं। 14 अप्रैल वाले पत्र की कुछ पंक्तियाँ हैं - 'यह विश्वविद्यालय के भविष्य-उत्थान और निर्माण का प्रश्न है। इसकी उपेक्षा करने का क्या अर्थ होगा? यह मेरे कहने की बात नहीं है मैं विश्वविद्यालय की और नवीन राष्ट्रीय शिक्षा नीति की हित-कामना से प्रेरित होकर ही ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। इनका कोई दूसरा आशय नहीं है। आप स्वयं प्रान्त के नीति-निर्माता और संचालक हैं। आपके सम्मुख इस संस्था के सम्बन्ध की उपर्युक्त बातें निवेदन कर अब मैं निश्चिन्त हो गया। यदि मैं इन बातों का परिचय आपसे न कराता तो अपने कर्तव्य में त्रुटि समझता।... इस सम्बन्ध में यह मेरा अंतिम वक्तव्य है। पत्र में वे घरेलू बातों का जिक्र करना भी नहीं भूलते।

'19 अप्रैल को मैं काशी जाऊँगा। वहाँ से शीघ्र ही गाँव (बीघापुर के पास मगरायर, जिला उन्नाव) जाना है। 30 अप्रैल को मेरे बड़े बच्चे स्वस्ति कुमार का यज्ञोपवीत संस्कार है। आपकी शुभकामना और आशीर्वाद, आशा है, उसे प्राप्त होंगे। सविनय नन्ददुलारे वाजपेयी।' इन पत्रों से सागर के प्रारम्भिक दिनों की उनकी मनोस्थितियों का खुलासा होता है।

नन्ददुलारे वाजपेयी के सागर आने के आगे-पीछे के कई दुख भी थे जिनके सूत्र उनके प्रियजनों से जुड़ते थे। जिस कुर्सी पर वे विभागाचार्य के रूप में आ बैठे थे उस पर कुछ ही महीनों पहले वे आनन्दमोहन वाजपेयी बैठा करते थे जिन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रवेश दिलाने के लिए वे और कवि निराला एक जमाने में प्रयत्नशील रह चुके थे। वही आनन्दमोहन वाजपेयी जिनको निराला की 'यमुना के प्रति' कविता अत्यन्त प्रिय थी और जिनके छात्रवृत्ति सम्बन्धी एक आवेदन-प्रकरण पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने विश्वविद्यालय प्रशासन को लिखा था कि 'इन्हें छात्रवृत्ति न दी जाए क्योंकि ये श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शायद कज़िन (चचेरे भाई) हैं - नन्ददुलारे की पारिवारिक स्थिति अच्छी है, यह मुझे मालूम है।' वाजपेयी जी ने इस पर अपनी तीखी प्रतिक्रिया निराला को लिखे एक पत्र में व्यक्त की थी कि इस बार जब वे द्विवेदी जी महाराज से मिलेंगे तब यह ज़रूर पूछेंगे कि यह उन्होंने कैसे लिखा। किन्तु द्विवेदी जी के अपने आधार थे। आनन्दमोहन वाजपेयी पं. रामस्वरूप वाजपेयी के बेटे थे, गाँव-गढ़ेवा के। जो मगरायर से बिल्कुल पास था और नन्ददुलारे वाजपेयी उन्हें चाचा कहकर पुकारते थे। इतना ही नहीं, निराला के साथ गांव में मिलकर जो पुस्तकालय खोला गया था, उसके सरपरस्त भी रामस्वरूप वाजपेयी ही थे। काशी में आनन्दमोहन जी का अगर कोई पारिवारिक अभिभावक था तो यही नन्ददुलारे वाजपेयी थे। आनन्दमोहन वाजपेयी, वाजपेयी जी से एक साल पीछे थे और काशी में उन्हीं की देख-रेख में चल और पढ़ रहे थे। संयोग ही था आनन्दमोहन विश्वविद्यालय के प्रारंभिक काल में ही आ गए थे किन्तु पेट की किसी गंभीर बीमारी के चलते अकस्मात चल बसे। प्रियजन की इसी खाली हुई जगह पर नन्ददुलारे वाजपेयी आए थे।

ये आनन्दमोहन वाजपेयी कवि, समीक्षक अशोक वाजपेयी के सगे ताऊ थे। कवि अशोक वाजपेयी के पिता पं. परमानंद वाजपेयी इन्हीं आनन्दमोहन जी के छोटे भाई थे जो विश्वविद्यालय के डिपुटी रजिस्ट्रार हुआ करते थे। आनन्दमोहन की पढ़ाई-लिखाई और विकास में नन्ददुलारे वाजपेयी का गहरा योगदान उन चिट्ठियों में आज भी सुरक्षित है जो उन दिनों कवि मित्र निराला को लिखी गई हैं। इन आनन्दमोहन के आकस्मिक निधन से नन्ददुलारे वाजपेयी को कितना मानसिक आघात पहुँचा होगा, कहने की बात नहीं।

पं. नन्ददुलारे वाजपेयी इसी परिस्थिति और मनोदशा में सागर आए थे। तथापि वे किसी पराजित मनोभाव में रहने के आदी कभी नहीं थे।

(नन्ददुलारे वाजपेयी की बहुचर्चित जीवनी 'आलोचक का स्वदेश' से साभार)

एम. 29, निराला नगर
भदभदा रोड, भोपाल (म.प्र.)

संदर्भ -

1. *डॉ. आर.डी. मिश्र 'चेतना के संस्कार : संस्कारों की चेतना' लेख से।*
2. *डॉ. कांति कुमार, शिव कुमार श्रीवास्तव : शब्द और कर्म की सार्थकता, पृ. 31।*
3. *रामेश्वर गुरु, सम्मेलन पत्रिका, पौष-फाल्गुन 1908, पृ. 20।*
4. *रामेश्वर गुरु, सम्मेलन पत्रिका, पौष-फाल्गुन 1908, पृ. 20।*

''हिन्दी से किसी भी भारतीय भाषा को भय नहीं है। यह सबकी सहोदर है।'' - महादेवी वर्मा

खड़ी बोली : गद्य भाषा की सर्वसम्मति

सुरेश आचार्य

खड़ी बोली को गद्य की प्रमुख भाषा के रूप में प्राप्त सर्वसम्मति के पीछे सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि 1843 ईस्वी तक भारतीय साहित्य मूलतः काव्य रूप में ही प्राप्त होता है। भाषा के रूप में प्रमुख स्थान ब्रजभाषा को प्राप्त रहता है, और गद्य का न तो कोई साहित्य प्राप्त होता है तथा न ही कोई सर्वसम्मत भाषागत व्याकरण ही है। खड़ीबोली अन्य बोलियों की तरह अविकसित और अन्य प्रान्तीय बोलियों की तरह अपने विशिष्ट उत्तर भारतीय क्षेत्र में ही बोली जाती दिखाई देती है। इसलिए जब खड़ी बोली भारतीय गद्य की भाषा बनकर सामने आई तो उसे बिना झिझक एक सर्वसम्मति प्राप्त होती है।

अमीर खुसरो की जो पहेलियाँ, मुकरियाँ और भक्ति-गीत प्राप्त होते हैं उनकी भाषा खड़ीबोली ही है। वस्तुतः सारे देश में मुसलमानों के आ बसने से खड़ीबोली के प्रसार में तीव्रता आई। औरंगजेब के समय तो फारसी मिली खड़ीबोली में काव्य रचना आरम्भ हो गई थी। उर्दू साहित्य तो खड़ीबोली के आधार पर ही खड़ा है। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत के सारे महानगरों में दिल्ली और आगरा से भाग-भाग कर पहुंचे शायरों, व्यापारियों और दरबारियों ने खड़ी बोली के प्रचारकों की भूमिका बिना जाने निबाहते हुए, इसके विकास में योगदान किया। धीरे-धीरे पूर्व और पश्चिम भारत में फैलते उपरोक्त वर्गों ने प्रमुख भारतीय महानगरों की व्यावहारिक भाषा के रूप में खड़ी बोली को स्थापित किया। आचार्य शुक्ल के अनुसार ''यह खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी, मौलवियों और मुंशियों की 'उर्दू-ए-मुअल्ला' नहीं। यह अपने ठेठ रूप में बराबर पछांह से आती हुई जातियों के घरों में बोली जाती है, अतः कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिन्दी गद्य की भाषा अरबी, फारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है।'' भारत में अँग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के प्रयासों में से एक आधुनिक हिन्दी गद्य के विकास का प्रयास भी है।

ईसाई धर्म के प्रचार ने भी हिन्दी गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही। अँग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के सिलसिले को आधुनिक हिन्दी गद्य के विकास से जोड़कर देखते समय यह सावधानी रखना आवश्यक है कि अँग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी अथवा 1857 के बाद का

महारानी का शासन आधुनिक हिन्दी गद्य के विकासक्रम को संरक्षण देते और तीव्र करते हैं। खड़ी बोली के गद्य के आरम्भिक रचनाकारों में रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, मथुरानाथ शुक्ल, सदा सुखलाल, इंशा अल्ला खां, लल्लूलाल और सदल मिश्र आदि उल्लेखनीय हैं। डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार, ''अठारवीं शताब्दी में पटियाला के रामप्रसाद 'निरंजनी' कृत 'भाषा-योग-वशिष्ठ' (1741 ई.) और मध्य प्रान्त के दौलतराम कृत 'जैन पद्म-पुराण' (1761 ई.) की भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ। 1761 ई. में अँग्रेज हिन्दी प्रदेशों तक पहुंचे भी नहीं थे। स्वयं कॉलेज की स्थापना के समय मथुरादास शुक्ल ने 'पंचांग-दर्शन' (1800 ईस्वी) और लगभग इसी समय सदासुखलाल ने विष्णु पुराण पर आधारित गद्य रचना की और 1798 और 1808 के बीच इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की इन सब रचनाओं में अरबी फारसी के शब्दों के स्थान पर विशुद्ध संस्कृत या ठेठ हिन्दी शब्दों का प्रयोग हुआ है। अस्तु, आधुनिक खड़ी बोली गद्य का जन्म अँग्रेजों के संरक्षण में फोर्ट-विलियम कॉलिज के हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष जॉन बौर्थविक्-गिलक्राइस्ट के प्रोत्साहन से रचे गये लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' से नहीं माना जा सकता।'' अँग्रेजों के संरक्षण से खड़ी बोली गद्य आशातीत विकास करता है। करोड़ों भारतीयों को अँग्रेजी सिखाने की अपेक्षा मुट्ठी भर शासकों को हिन्दी क्षेत्र की भाषायें सिखाने और तदनुसार शासन प्रबंध करने में अधिक सुविधा थी खड़ी बोली गद्य के विकास की तीव्रता के पीछे यह अधिक महत्त्वपूर्ण कारण था।

जॉन गिलक्राइस्ट स्वयं रोमन लिपि के पक्ष में थे, यद्यपि वे फारसी लिपि का भी समर्थन करते थे हिन्दी में अरबी-फारसी के मुहावरों और शब्दों का प्रयोग उन्हें बहुत स्वभाविक एवं सहज लगता था। डॉ. वार्ष्णेय के अनुसार, 'गिलक्राइस्ट के लिए हिन्दुस्तानी भाषा में प्रयुक्त अरबी-फारसी शब्द अँग्रेजी के फ्रेंच और लेटिन शब्दों की तरह हैं। उन्होंने 'हिन्दी' और 'हिन्दुवी', 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' में भेद माना है। हिन्दी और हिन्दुस्तानी को वे समानार्थी शब्द मानते थे। लेकिन 'हिन्दी' (हिन्द की) के स्थान पर उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' शब्द इसलिए पसन्द किया ताकि उसमें और 'हिन्दवी' या 'हिन्दुई' शब्दों के बीच कोई गड़बड़ पैदा न हो सके। हिन्दवी या हिन्दुई को वे केवल हिन्दुओं की भाषा मानते थे। इसे उन्होंने 'गंवारू' (Vulgar) कहकर पुकारा है। हिन्दी और 'हिन्दवी' का यह भेद जनसाधारण में प्रचलित नहीं था। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी भाषा के लेखकों और कवियों में मीर, दर्द, सौदा, मिसकीन आदि की प्रधानरूप से गणना की है जो अरबी-फारसी शब्दों का अधिक से अधिक संख्या में प्रयोग करते थे।'' लिपि भेद की असंगति के बावजूद इस काल के गद्य का विकास क्रम तीव्र है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है कि ''जॉन गिलक्राइस्ट के मत से हिन्दी और हिन्दवी में भेद था। उनकी दृष्टि में हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू एक ही अर्थ के द्योतक शब्द हैं। ब्रजभाषा या हिन्दुवी हिन्दुओं की भाषा है। हिन्दुस्तानी का निर्माण हिन्द या हिन्दुओं की बोली के आधार पर ही हुआ था। उसमें फारसी-अरबी के शब्द जोड़ दिये गये थे गिलक्राइस्ट हिन्दुओं में प्रचलित 'हिन्दवी' को

'गंवारू' भाषा कहते थे। उन्हें अरबी-फारसी शब्दों से भरी भाषा को हिन्दी कहने में आपत्ति नहीं थी, पर उन्हें डर था कि कहीं लोग हिन्दी और हिन्दवी या हिन्दुई को एक ही भाषा न समझ लें, इसलिए उन्होंने यथा सम्भव 'हिन्दुस्तानी' शब्द का ही प्रयोग किया। इस भाषा के लेखकों में उन्होंने मीर, दर्द, सौदा आदि के नाम गिनाये थे। यद्यपि वे मानते थे कि हिन्दुस्तानी भाषा के पुराने कवियों और लेखकों ने फारसी लिपि का प्रयोग किया है, अतएव फारसी लिपि ही 'हिन्दुस्तानी' की वास्तविक लिपि है, तथापि उन्होंने 'हिन्दुस्तानी एनेकडोट्स एण्ड टेल्स' 'दि आर्टिकल्स ऑफ वार', 'दि ओरियेंटल लिंग्विस्ट' (1798 ई.) आदि पुस्तकें रोमन लिपि में ही प्रकाशित कराई थीं।'' इस काल की भाषा का एक तेवर देखिए, 'दो जवान थे, एक का नाम इस्तिकाल मुहिम्मिल था दूसरे का गुरुर आराम तलब, उन्होंने बाहम मिलकर मुल्क-इ-नादानी को छोड़ा, और कस्र-न-सरफराजी की तलाश में किश्वर-इ-इल्म की राह ली चंदां दूर न बढ़े थे, कि 'कोह-इ-पसंद' को पहुंचे, उस पर से अपनी 'मंजिल-इ-मकसूद' को काले कोसों देखा, तब वहाँ से उतरे और आगे बढ़कर जो निगाह की तो एक दोराहा नज़र पड़ा, देखते ही हैरान हुए, दोनों ने दर्याफ्त किया कि हर एक रस्तः इसी मुकाम से सर्फराजी के कस्र को जाता है, इस वास्ते कि वहाँ दो निशान थे।'' गिलक्राइस्ट के एक विद्यार्थी बेली ने जो स्थानापन्न गवर्नर भी थे, फोर्ट विलियम कालेज के वार्षिक वाद-विवाद के अवसर पर 1802 को एक थीसिस पढ़ी। बाद में यह 'एसेज एण्ड थीसिस-कम्पोज़्ड' के नाम से 1804 के लगभग प्रकाशित हुई थी। 'दावा' शर्मनाक इस थीसिस की कुछ पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं। वह लिखता है, ''हिन्दुस्तान में काररवाई के लीए हिन्दी जबान और जबानों से जीआदः दरकार है।

हिन्दुस्तानी जबान है कि जिसका जिक्र मेरे दावे में है, उसको हिन्दी-उर्दू और रेख्तः भी कहते हैं और यिह मुरक्कव अरबी और फारसी ओ संस्कृत या भाषा से है और यिह पिछली-अगले जमाने में तमाम हिंद में रोऐज थी। अरब के सौदागरों की आमद-ओ-रफ् से और मुसलमानों की अकसर यूरिश और हुकूमति केआमी के वाइस अलाफाजि अरबी और फारसी उसी पुरानी बोली में बहुत मिल गऐ और ऐक जबान नई बन गई जैसे कि बुनियादि कदीम पर तामीरि नौ होवे।''

यह भाषा आधुनिक हिन्दी गद्य की भाषा तो बिल्कुल ही नहीं है। सर्जन-जनरल एडवर्ड बाल्फर के ''दि एन्सायक्लोपीडिया ऑव इंडिया, ऐंड आव ईस्टर्न ऐशियाः जिल्द 1, सन् 1885, पृष्ठ 1203 का हवाला देते हुए वार्ष्णेय ने लिखा है - ''वास्तव में यह कहना ठीक नहीं कि गिलक्राइस्ट ने हिन्दी के आधुनिक खड़ी बोली गद्य को जन्म दिया और अँग्रेजों ने उसे पाला-पोसा। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी या उर्दू गद्य की अभिवृद्धि की, न कि हिन्दी गद्य की। लल्लूलाल और सदल मिश्र की रचनायें खड़ी बोली गद्य के जन्म की द्योतक नहीं वरन् उसकी परम्परा की कड़ियाँ मात्र हैं।'' यहाँ यह स्मरणीय है कि निर्णायक रूप में यही वह समय है जो आधुनिक हिन्दी गद्य की भाषा निश्चित करता है।

आधुनिक हिन्दी गद्य-भाषा का उदय

आरम्भ में यह उल्लेख किया जा चुका है कि उन्नीसवीं शताब्दी का आरम्भ सही अर्थों में आधुनिक हिन्दी गद्य-भाषा के उदय का समय है। इसके बावजूद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक बड़े पैमाने पर ब्रजभाषा गद्य की प्रमुख भाषा बनी दिखाई देती है। फोर्ट-विलियम कालेज के अध्यापकों के प्रयासों के पीछे एक और घटना उल्लेखनीय है। 1915 ई. में महत्त्वपूर्ण अँग्रेज अधिकारियों एवं श्री एन.बी. एडमास्टन ने इस कालेज के अधिकारियों से भाषा सम्बन्धी गड़बड़ियाँ दूर करने का आग्रह किया था। आधुनिक हिन्दी गद्य की भाषा के परिमार्जन का यह महत्त्वपूर्ण प्रयास था। इसके अलावा कई महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक संस्थानों ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास किए। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''सन् 1823 ई. में आगरा कॉलेज की स्थापना हुई और उसमें हिन्दी शिक्षा की व्यवस्था की गई। इससे पूर्व 1817 ई. में 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी' की स्थापना हो चुकी थी और 1833 ई. में 'आगरा बुक स्कूल सोसायटी' की स्थापना हुई। इन संस्थाओं ने अच्छे-अच्छे पाठ्य-ग्रंथ प्रस्तुत किए। इन पाठ्य-ग्रंथों में भाषा अधिक परिमार्जित और व्यवस्थित हुई और उसमें अनेक नए विषयों को अभिव्यक्त करने की क्षमता आयी। 'ग्रहमंडल का संक्षेप वर्णन', 'पदार्थ-विद्यासागर', 'रेखागणित' आदि पाठ्य-पुस्तकें विषय और भाषा दोनों ही दृष्टि से नवीन थी। यद्यपि इन पुस्तकों में जो भाषा प्रयुक्त हुई थी, वह परवर्त्तीकाल में प्रयोग में होने वाली भाषा की अपेक्षा शिथिल थी, तथापि वह भाव-प्रकाशन के उपयुक्त थी।'' आधुनिक हिन्दी साहित्य विकास और परिवर्तन के युग की प्रमुख उपलब्धियों में है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के इतिहास में ऐसा और कोई युग नहीं, जो विकास और बहुमुखी रचनाधर्मिता का इतना प्रचुर और प्रतिभासम्पन्न युग हो। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में गद्य में, जो नयी चटख, नया स्वरूप और नयी भाषा-सम्पदा दिखाई देती है, वही दरअसल आधुनिक हिन्दी गद्य की परिमार्जित भाषा की प्रस्तुति है। इस भाषागत विकास के मूल में आवश्यकता ही सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि ''आधुनिक युग की पृष्ठभूमि में मध्ययुग की स्थिति है। हमारे साहित्य का मध्य युग 1800 ई. के आसपास समाप्त हो गया। अँग्रेजों के आगमन के कारण नयी भाषा, नए साहित्य और नवीन संस्कृति से हमारा परिचय हुआ। आश्चर्यचकित करने वाली नयी चीज़ें हमारे समक्ष आयीं। भारतवर्ष में भी औद्योगिक सभ्यता का प्रसार हुआ। इसके प्रति लोगों का आकर्षण भी बढ़ा, और अधिक संख्या में व्यक्ति इसकी ओर झुके। जनता को नयी दुनिया का बोध होने लगा।'' अँग्रेजों ने जिस औद्योगिक सभ्यता का शिला संस्थापन भारत में किया था उसका आधुनिक गद्य-भाषा के प्रचार-प्रसार में कम योगदान नहीं है। आचार्य वाजपेयी ने इस ओर इशारा करते हुए कहा था, ''यदि इस देश में विभिन्न तरह के भाषा-भाषी न होते और इस देश का विस्तार अधिक न होता तो एक या दो भाषाओं से काम चल सकता था। सम्भव

यह भी था कि मध्यवर्तिनी या केन्द्रीय भाषा की आवश्यकता ही न पड़ती पर भारतवर्ष एक बड़ा देश है। इसके विभिन्न भागों में कुल मिलाकर चौदह बड़ी भाषायें प्रचलित हैं। इस विभिन्नता में सर्वसाधारण को आपस में कार्य करने और एक दूसरे को समझने के लिए एक माध्यम की आवश्यकता है।'' मैं कहना चाहूँगा कि आचार्य वाजपेयी बीसवीं शताब्दी के मध्य में जिस भाषायी आवश्यकता पर टिप्पणी कर रहे थे वह उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इसी भूमिका के लिए अपना स्वरूप संवारने लगी थी। उसने ब्रजरंजित उपमा, उपमानों और प्रयोगों को छोड़कर बिल्कुल नए तेवर अपनाना आरम्भ कर दिया था।

आज हिन्दी गद्य की जो भाषा भारतीय जनसंख्या के सबसे बड़े हिस्से का प्रमुख संप्रेषण-माध्यम बनी बैठी है कभी उसके विकास में ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही थी। जहाँ तक गद्य-साहित्य का प्रश्न है उसके स्वरूप में परिवर्तन आधुनिक युग से होता है। डॉ. श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है, ''आधुनिक काल का प्रारम्भ 1837 ई. से होता है जबकि दिल्ली में एक लिथोग्रैफिक प्रेस की स्थापना हुई। इससे पहले भी कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज से कुछ हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुई परन्तु वे संख्या में बहुत कम थीं और उनका महत्त्व भी विशेष न था। 1837 से हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन अबाध गति से चलता है। 1837 के पश्चात् और भी कितने प्रेस खुले जिनमें धार्मिक ग्रंथों के साथ ही साथ संस्कृत साहित्य के काव्य और नाटक भी सस्ते दामों निकलने लगे। अँग्रेजी स्कूलों और कालेजों में शिक्षित युवकों की संख्या भी क्रमशः बढ़ती जा रही थी। इस प्रकार एक ओर हमारी प्राचीन शिक्षा और साहित्य का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के सम्पर्क से सामाजिक और राजनैतिक स्वातंत्र्य की भावना जड़ जमा रही थी। ज्ञान के उदय से लोगों में चेतना आ रही थी और फलतः परिवर्तन की भावना जाग्रत होने लगी। प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति को अपनी वर्तमान दशा का अनुभव होने लगा और वह जीवन तथा साहित्य के प्रत्येक विभाग में परिवर्तन और विकास के लिए व्याकुल हो उठा।'' यह व्याकुलता हिन्दी गद्य-भाषा के पुष्टीकरण और विकास को लेकर थी। यह कार्य धीरे- धीरे किया जाने वाला कार्य था। इस विकास कार्यक्रम पर टिप्पणी करते हुए डॉ. श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है कि ''नया मार्ग ढूँढ़ निकालना भी साधारण काम न था। रास्ते सभी अनजाने थे। किसी ओर अंधाधुंध ढंग से बढ़ना भी खतरे से खाली न था। फूँक-फूँककर पैर रखने की आवश्यकता थी। इस कठिन अवसर पर हमारे पथ-प्रदर्शकों ने बड़े साहस और उत्साह का परिचय दिया। ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा। संस्कृत, बंगला और अँग्रेजी ग्रंथों का अनुवाद करके शब्दों की पूंजी बढ़ाई गई। अन्य साहित्यों के अध्ययन से भावक्षेत्र का विस्तार बढ़ाया गया, ब्रजभाषा के विषय और उपादानों को छोड़कर प्रकृति और मानव जीवन से साहित्य के लिए नए विषय चुने गए और शैली तथा साहित्य परम्परा के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग किए गए। हिन्दी साहित्य अपने नए मार्ग पर चल निकला।''

आधुनिक हिन्दी गद्य की नई भाषा के इस निर्माणकाल में अँग्रेजी और बंगला को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हुए डॉ. श्रीकृष्णलाल ने लिखा है, ''गद्य की जो नई भाषा बनने जा रही थी, उसके लिए कोई आदर्श हमारे सामने न था। सुन्दर गद्य लिखने के लिए अभ्यास और आदर्श लेखकों के अनुकरण की अत्यंत आवश्यकता होती है। इसी कारण इस काल में (1900 से 1908) और इसके बाद भी कुछ वर्षों तक हिन्दी गद्य में कोई सुन्दर मौलिक रचना न हो सकी। बंगला और अँग्रेजी के अनुवादों द्वारा पूरा अभ्यास और अनुकरण हो जाने पर ही गद्य की सुन्दर रचनायें हो सकीं।'' हिन्दी गद्य की भाषा में शब्द भंडार बहुत कमजोर था। ब्रजभाषा आदि को पीछे छोड़कर आधुनिक हिन्दी गद्य की भाषा की सबसे अधिक बलवान प्रतिद्वंदी उर्दू थी। इस सिलसिले में डॉ. श्रीकृष्णलाल ने एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है। उनके अनुसार, ''हिन्दी के प्रचार के साथ ही साथ उर्दू का प्रचार और महत्त्व निरन्तर घटता जा रहा था। पंजाब और पश्चिमी संयुक्त प्रान्त में सभी जाति के हिन्दू साधारणतया उर्दू ही पढ़ा करते थे। धर्मग्रंथ भी प्रायः लोग उर्दू में ही पढ़ते थे। यहाँ तक कि वे अपने बच्चों को 'एकबाल' और 'खुरशेद बहादुर' कहते तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं करते थे। सिक्खों के नवें गुरु का नाम 'तेगबहादुर' भी उर्दू का प्रभाव प्रकट करता है। कचहरियों की भाषा भी उर्दू थी। इस प्रकार पंजाब और संयुक्त प्रान्त में उर्दू का बोलबाला था। 1894-95 में संयुक्त प्रान्त में केवल 354 हिन्दी की पुस्तकें प्रकाशित हुईं जबकि उर्दू की प्रकाशित पुस्तकों की संख्या 623 थी। इसके पहले हिन्दी पुस्तकें और भी कम प्रकाशित होती थीं - 1893-94 में केवल 306 पुस्तकें प्रकाशित हुईं और 1892-93 में केवल 208, इसके विपरीत उर्दू की पुस्तकें बहुत अधिक संख्या में प्रकाशित होती थी। परन्तु धीरे-धीरे हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा और 1900 ई. में हिन्दी भी कचहरियों में प्रयुक्त होने लगी। इसका फल यह हुआ कि 1904-05 में इस प्रान्त में 567 हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुईं जबकि उर्दू पुस्तकों की संख्या केवल 451 रह गई।''

इस तीव्र विकासक्रम के पीछे बहुत सी जातियों, संस्कृतियों और भाषाओं का योगदान था। इस योगदान ने आधुनिक हिन्दी गद्य को जहाँ रवानगी, शब्द भंडार और भरपूर संप्रेषण शीलता प्रदान की वहीं उसे एक सामासिक स्वरूप भी दिया। आचार्य कृष्णबिहारी मिश्र के अनुसार, ''18वीं और 19वीं शताब्दी के बीच हिन्दी के लड़खड़ाते हुए बाल-गद्य को जिन लोगों ने पाला-पोसा, चलना सिखाया और उसमें एक समर्थ गत्वरता का संयोजन किया, उनकी साधना अविस्मरणीय है। यह हिन्दी गद्य एक ओर मुसलमानी शासकों की छत्रछाया में विकसित हुआ तो दूसरी ओर फोर्ट-विलियम कालेज के तत्वाधान में इसके निर्माण का महत् प्रयत्न किया गया। जहाँ इसके व्यक्तित्व में आर्यसमाजी गद्य-निर्माताओं के वाक्-पाटव का ओज है, वहीं मिशनरियों के त्याग और उदारता का स्वर भी। अर्थात् हिन्दी गद्य के निर्माण में विविध विचारधाराओं और संस्कृतियों का योग है।'' इस सिलसिले में, जब विभिन्न धर्मों और सांस्कृतिक धाराओं का उल्लेख

किया जाता है तब ईसाई धर्म-प्रचारकों के प्रयास विशेष उल्लेखनीय होते हैं, जो बाइबिल के प्रचार हेतु किये गए लेखों और अनुवादों के माध्यम से किये गए थे। आचार्य मिश्र के अनुसार, ''भारतवर्ष की विभिन्न प्रधान भाषाओं और बोलियों में बाइबिल का अनुवाद करने की बृहत् आयोजना कैरे और उनके साथियों ने बनायी थी। हिन्दी से उनका तात्पर्य खड़ी बोली से था। इन श्रीरामपुर मिशनरियों द्वारा प्रारम्भ किया गया कार्य आगरा, इलाहाबाद तथा अन्य स्थानों के मिशनरियों ने आगे बढ़ाया। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लगभग समस्त हिन्दी प्रदेश में ईसाइयों के प्रचार-केन्द्र स्थापित हो गए। इससे उनके धर्म प्रचार में शक्ति आई किन्तु भारतीय दृष्टि से लाभ यह हुआ कि भारतीय पुनर्जागरण की भाषा के विकास-परिष्कार में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष योग मिला।'' इस तरह जिसे आज आधुनिक हिन्दी गद्य की टकसाली भाषा कहकर हम प्रसन्न होते हैं, उसके स्वरूप निर्धारण और विकास-क्रम के पीछे एक दीर्घ और सुविन्यस्त सहयोग-श्रृंखला है।

यद्यपि आज हिन्दी-गद्य भाषा के समक्ष अपेक्षाकृत अधिक चुनौतियाँ हैं और निश्चित ही ये देशव्यापी और एक अर्थ में सार्वभौमिक है किन्तु जहाँ तक गद्य की एक सरल, सहज और सार्थक भाषा होने का प्रश्न है, उस उत्तरदायित्व का सम्पूर्ण राष्ट्रीय स्तर पर उसे ही निर्वाह करना है। इस बारे में अज्ञेय की एक टिप्पणी का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। वे लिखते हैं, ''जब ब्रजभाषा 'भाषा' थी और हिन्दी केवल एक 'खड़ी' अर्थात् रूखी बोली, तब ब्रजभाषा जड़ता को प्राप्त हो चुकी थी और खड़ी बोली विकास कर रही थी। हिन्दी आज भी खड़ी बोली है, और हमें आशा करनी चाहिए कि हम उसे सदैव खड़े और गतिमान रूप में ही देखेंगे। जिस दिन वह बैठकर या जमकर फ़तवे देने लगेगी, उस दिन से उसका मंजाव और चमक तो और बढ़ाई जा सकेगी लेकिन उसका सहज प्रसार रुक जायेगा। हिन्दी ने अगर समूचे देश की साधना और आकांक्षा को और भाषाओं की अपेक्षा अधिक व्यक्त किया तो आज भी उसे वह गौरवमय दायित्व खो नहीं देना है। हिन्दी को किसी पर लादना नहीं है बल्कि हिन्दीतर प्रदेशों की साधना, आकांक्षा और अन्तः स्फूर्ति को अपने भीतर पाना और अभिव्यक्त करना है।'' आधुनिक हिन्दी-गद्य की भाषा इस महादेश के सभी क्षेत्रों, धर्मों, विचारों और संस्कृतियों की प्रतिनिधि भाषा होना चाहिए।

पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

स्वातंत्र्योत्तर भारत में गाँधी का औचित्य

अम्बिकादत्त शर्मा

अलबर्ट आइन्स्टाइन जैसे महान वैज्ञानिक ने महात्मा गाँधी के विषय में कहा था कि आने वाली पीढ़ी को इस सच्चाई पर विश्वास करना मुश्किल होगा कि मोहनदास करमचंद गाँधी नाम का कोई व्यक्ति वैसे ही हाड़-मांस का पुतला रहा होगा जैसे हम और आप हैं। ऐसे ही विश्वप्रसिद्ध धर्म विज्ञानी आर.सी. जेनर ने अपनी रचनाओं में 'और युधिष्ठिर लौट आया' कहते हुए गाँधी को सन्दर्भित किया है। गाँधी जी के विषय में दिये गये ऐसे उदानपरक वक्तव्यों से साफ जाहिर होता है कि उनका व्यक्तित्व इतना विशाल था कि उसे आधुनिक मनोविज्ञान के 'सेल्फ लव्ड' और 'सेल्फ स्टीम्ड' जैसी व्यावर्त्तक मानव प्रवृत्तियों से परिभाषित होने वाले व्यक्ति की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। वास्तव में महात्मा गाँधी 'विचार-पुरुष' थे और ऐसे विचार-पुरुष जिसमें भारत का 'सनातन-सत्य' अपनी सोलहों कलाओं के साथ अवतरित हुआ था। सचमुच यह भारत माता की अंचल का पुण्य संभार ही है कि उसकी गोद में समय-समय पर ऐसे 'सत्याग्रही महापुरुष' जन्म लेते रहते हैं-*धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।*

परन्तु यह कैसी विडम्बना है! दीपक तले ही अन्धेरा होता है और मलयागिरि की भीलनी चन्दन के महत्त्व को न समझ कर उसका उपयोग आग जलाने में कर लिया करती है। आज हमारे देश में गाँधी जी के साथ भी कमोवेश ऐसा ही हो रहा है। इतना ही नहीं, जिसे हमने 'राष्ट्र पिता' का दर्जा दिया है उसी को लांछित करने वाले बहुतेरे साहित्य धड़ल्ले से बाजार में बिक रहे हैं। इस देश में अँग्रेजी हुकूमत ने तो गाँधी के 'हिन्द स्वराज' पर प्रतिबन्ध लगाया था लेकिन आज स्वाधीन भारत में गाँधी को बेबुनियाद लांछित करने वाले साहित्यों पर प्रतिबन्ध लगाने वाला या लगाने की बात भी सोचने वाला कोई नहीं। पुनः यदि इस देश में गाँधी जी को सम्मान भी दिया जाता है तो वह नितान्त अतीतोन्मुखी भाव से। हम उन्हें राष्ट्रपिता कह कर और उनकी जयन्ती तथा पुण्य तिथि मनाकर छुट्टी पा लेते हैं। सरकारी तौर पर गाँधी जी के महत्त्व को यदि वर्तमान के लिए सन्दर्भित भी किया जाता है तो बस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मंच पर 'नॉन वॉयलेंस' और 'पीस पॉलिटिक्स' की रोटी सेकने के लिए।

वस्तुतः यह सब कुछ जो इस देश में गाँधी जी के साथ हो रहा है या होता आया है, वह उनका अवमूल्यन नहीं बल्कि विस्मरण जैसा है। इस विस्मरण का भी एक खास कारण है। वह यह कि हम अक्सर गाँधी जी के विषय में भारत की स्वाधीनता आन्दोलन की परिसीमा में सोचते हैं और भारत की स्वाधीनता का मतलब महज उसकी राजनीतिक स्वतंत्रता से लेते हैं।

जाहिर है कि सन् 1947 में भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता येन-केन प्रकार से प्राप्त हो गई और उसकी अगुवाई करने वाले को 'राष्ट्रपिता' का दर्जा भी दे दिया गया। अब उस अतीत को तो केवल फूल-माला ही चढ़ायी जा सकती है। इस देश के वर्तमान को उससे क्या लेना-देना। मानो गाँधी जी का मूल्य बोध और उनका समूचा दर्शन केवल 15 अगस्त, 1947 को पं. जवाहर लाल नेहरु द्वारा लाल किले पर तिरंगा झण्डा फहराने की फलश्रुति तक ही सक्रिय और औचित्यपूर्ण था। परन्तु हकीकत यह है कि इस देश की इससे बड़ी कोई दूसरी भूल नहीं हो सकती कि गाँधी जी को सुदूर अतीत के संग्रहालय में पड़ी कोई बेकाम की पुरानी धरोहर मान लिया जाय। फिर भी, विडम्बना भी यही है कि हम इस भूल को न भूलने से कभी बाज नहीं आते। देखा जाय तो इस देश में गाँधी जी के साथ ऐसा बर्ताव तो आजादी के तुरन्त बाद से ही होने लगा था। गाँधी जी नोवाखाली में दंगा शान्त करवा रहे थे और इधर लोग महत्त्वपूर्ण सरकारी ओहदों के बँटवारे की राजनीति में लगे थे। तभी गाँधी जी ने एक पत्र लिखा था कि ''भारत का एक सिपाही यहाँ दूर अकेले खड़ा है उसे भी याद किया जाना चाहिए।''

वस्तुतः भारत की स्वाधीनता आन्दोलन की सीमा में गाँधी जी के महत्त्व और औचित्य का मूल्यांकन करना ही उन्हें सीमित करके आँकना है। चर्चिल से किसी प्रसंग में एक मुलाकात के दौरान उन्होंने यह बात कही भी थी कि चर्चिल आप ऐसा क्यों समझते हैं कि हम ब्रिटिश हुकूमत की खिलाफत केवल इसीलिए करते हैं कि भारत को केवल राजनीतिक स्वायत्तता चाहिए? हम तो मानव-स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रहे हैं और अच्छा होता कि आप भी मेरे साथ इस लड़ाई में शामिल हो जाते। स्पष्ट है कि भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के पीछे गाँधी जी का मूल्यबोध जो सक्रिय रूप से कार्य कर रहा था वह वृहत्तर कोटि का मूल्यबोध था। उसे भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता तक में सीमित करके नहीं आँका जा सकता।

'हिन्द स्वराज' नामक पोथी जिसे गाँधी जी ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के पीछे का दर्शन अथवा 'मैनिफेस्टो' के रूप में लिखा था, उसके द्विस्तरीय लक्ष्यों का खुलासा करते हुए सन् 1921 के यंग इण्डिया में वे *हिन्द स्वराज* के पाठकों से कहते हैं - ''मैं पाठकों को एक चेतावनी देना चाहता हूँ। वे ऐसा न समझें कि हिन्द स्वराज में जिस स्वराज की तस्वीर मैंने खड़ी की है, वैसा स्वराज कायम करने के लिए आज मेरी कोशिश भी चल रही है। मैं जानता हूँ कि अभी हिन्दुस्तान उसके लिए तैयार नहीं है। ऐसा कहने में शायद ढ़िठाई का भास हो, लेकिन मुझे पक्का विश्वास है कि हिन्द स्वराज में जिस स्वराज की रूप-रेखा मैंने बनाई है, वैसा स्वराज पाने की मेरी निजी कोशिश ज़रूर चल रही है। परन्तु इसमें कोई दो राय नहीं कि आज मेरी सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय तो हिन्दुस्तान की प्रजा की इच्छा के मुताबिक 'पार्लियामेंटरी ढंग का स्वराज' पाना है। रेलों, कारखानों और यहाँ तक कि अस्पतालों को नाश करने का ध्येय मेरे मन में नहीं है, अगरचे उनका कुदरती नाश हो तो मैं उसका स्वागत करूँगा।'' गाँधी जी के इस स्पष्टीकरण से साफ जाहिर होता है कि उनकी दृष्टि में भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का प्राथमिक लक्ष्य हिन्दुस्तान में पार्लियामेंटरी ढंग का राजनीतिक स्वराज पाना था और इस राजनीतिक स्वराज को वास्तविक अर्थों में स्वराज की ओर बढ़ने का सोपान बनाना था। अतः भारत की राजनीतिक

स्वतंत्रता उनके लिए साधन थी, साध्य नहीं। साध्य था वास्तविक स्वराज, यानि सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा इत्यादि सनातन मूल्यों पर आधारित एक पूर्ण सभ्यताबोध को धरती पर उतारना और उसके अवतरण के लिए प्रथम और उपयुक्त भूमि आर्यावर्त अर्थात् भारत को बनाना। इसीलिए गाँधी जी के स्वराज की परिकल्पना में जो व्यक्ति खड़ा है वह पूरे तौर से विशुद्ध भारतीय धर्म और अध्यात्म बोध से युक्त व्यक्ति है। गाँधी जी को इस सत्य का सर्वथा अभ्रान्त बोध था कि हिन्दुस्तान की पराधीनता वास्तव में भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध किसी एक देश की पराधीनता नहीं बल्कि एक सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति की पराधीनता है। वह भी ऐसी सभ्यता और संस्कृति जिसके लिए काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह, मद, और मत्सर से भी मुक्ति काम्य है जबकि दूसरी अन्य सभ्यतायें इन्हें ही मनुष्य का स्वभाव या फिर मनुष्य होने का सत्य समझती हैं। गाँधी जी की दृष्टि में यूरोप की सभ्यता अथवा आधुनिक कही जाने वाली सभ्यता 'मानव सत्य' के ऐसे ही दृष्टिकोण पर टिकी हुई सभ्यता है। आज यह तमाम सभ्यताओं और संस्कृतियों को उनके घर में ही घुस कर मिटाते हुए स्वयं अग्रणी सभ्यता का रूप धारण कर चुकी है। भारत की पराधीनता का सर्वाधिक भयावह रूप गाँधी जी इसी बात में देखते हैं कि किस प्रकार भारत दिनों दिन इस आधुनिक शैतानी सभ्यता के चपेट में आता जा रहा है और चारों तरफ से दमित भी हो रहा है। अतः भारत के वास्तविक स्वराज को इस शैतानी सभ्यता की चपेट से मुक्त होने में देखना गाँधी जी के लिए स्वाभाविक ही था। यही उनके हिन्द स्वराज का वृहत्तर लक्ष्य भी था। इसलिए कहना न होगा कि गाँधी जी जिस आज़ादी की लड़ाई लड़ रहे थे और भारत की जनमानस को जिसके लिए मानसिक रूप से तैयार करना चाहते थे वह दो देशों के बीच राजनीतिक सम्प्रभुता की लड़ाई नहीं थी बल्कि दो सभ्यताओं के बीच आधिपत्य की लड़ाई थी। पूरी दुनिया में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उज्ज्वल स्वरूप की अलख जगाने की लड़ाई थी। गाँधी जी का हिन्द स्वराज, जिसे वे आधुनिक सभ्यता को खारिज करने की पोथी भी कहते हैं, इसी का शंखनाद था।

अब यदि गाँधी जी के नजरिये से भारत की आज़ादी का मूल्यबोध और विगत साठ से अधिक वर्षों में उसकी दशा और दिशा पर विचार करें तो सबकुछ अपने मूल से भटका हुआ दिखाई पड़ता है। सन् 1947 में हम राजनीतिक रूप से आज़ाद तो हो गये, लेकिन इस राजनीतिक आज़ादी को जिस 'वास्तविक स्वराज' का सोपान बनना था, वह नहीं बन पाया। बदले में भारतीय जनमानस और अधिकांश समय तक स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्र निर्माण की बागडोर थामे राजनीतिक पार्टियाँ उस शैतानी सभ्यता से इस कदर अभिभूत हो गईं कि वे भारत की नियति आधुनिक यूरोप की नकल करने में देखने लगीं। गाँधी जी के ग्राम-स्वराज और स्वदेशी का सपना आज विदेशी सामानों के मॉल खोलने में रूपान्तरित कर दिया गया है। 'अल्ला-ईश्वर तेरे नाम' की सर्वधर्म सद्भाववादी आकांक्षा ने तुष्टीकरण की राजनीति के चलते हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का रूप धारण कर लिया है। एक ओर इसकी परिणति 'तबलीगी' जैसे आन्दोलन में हो रही है ताकि भारतीय मुसलमान जो अपनी धार्मिक आस्था को अक्षुण्ण रखते हुए यहाँ सदियों से रचे-बसे हैं, उन्हें भारतीयता से विमुखकर अरबमुखी बनाया जा सके। दूसरी ओर हिन्दुओं की सर्वसमावेशी

और सहिष्णु चेतना भी राजनीतिक इस्लाम की प्रतिक्रिया में अपने को परिभाषित करने लगी है। सर्वोदय और समतामूलक समाज के स्थान पर गाँधी के इस देश में अल्पसंख्यक बनने की एक होड़ सी लगी हुई है और इसके चलते इस देश में एक विषाक्त सामाजिक व्याकरण बनता जा रहा है। हिन्दी को समग्र भारत की अस्मिता की भाषा और उसके माध्यम से भारत को उसकी आत्मा में प्रतिष्ठित करने का गाँधी जी का दूरगामी लक्ष्य भाषायी आधारों पर राज्यों के बँटवारे और इस तरह पृथकतावादी तथा अलगाववादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने में फलीभूत हो रही है। यह सब कुछ और इससे भी भयावह स्थिति की सम्भावना आज भारत के मस्तक पर इसलिए आसन्न है कि आज यहाँ गोरे साहबों के स्थान पर भूरे साहबान काबिज हो गये हैं और वे ही सत्ताधारी 'एलिट' अपने को इस देश का वास्तविक प्रतिनिधि समझते हैं। इन सत्ताधारी एलिटों के लिए भारत का राजनीतिक स्वराज ही साध्य है जबकि गाँधी जी के लिए यह महज एक साधन था, वास्तविक स्वराज की ओर बढ़ने का, भारत को पश्चिमी सभ्यता की चपेट से मुक्त कर उसे उसकी आत्मा में प्रतिष्ठित करने का। सच पूछा जाय तो आज आधुनिक प्रकार के विकास की तमाम चकाचौंध के बावजूद भारत की आत्मा आत्मनिर्वासित सी हो कर रह गई है। आज यदि आत्मनिर्वासित भारत को फिर से आत्मप्रतिष्ठित करना है तो गाँधी के ही *हिन्द स्वराज* में बताये गये मार्ग पर राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को संचालित करना होगा और तभी हम राष्ट्रपिता के औचित्य को उत्तराधिकार भाव से आत्मसात कर सकेंगे।

यह कहना कहीं से भी स्वयं के प्रति कोई निराशाजनक अतिरंजना नहीं कि राजनीतिक रूप से स्वाधीन भारत ने अपने ऊपर एक स्वातंत्र्योत्तर प्रकार की दासता को ओढ़ लिया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस दासता को ही यहाँ राष्ट्रीयता बनाने की, भाषा और विचार दोनों ही धरातल पर, एक आन्तरिक कोशिश चल रही है। इस दासता से यदि आत्मचेतना के धरातल पर मुक्त होना है तो इसके लिए किसी बाहरी शत्रु के विरुद्ध तलवार उठाने या तोप चलाने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि उस बाह्य और संक्रामक पश्चिमी विचार से निजात पाने की ज़रूरत है जिसने एक प्रेत की तरह हम भारतीयों को चारों तरफ से अपने वश में कर लिया है। इसके लिए आवश्यक है कि हमारे पास अपनी भाषा हो, अपना दर्शन हो, अपना समाजशास्त्र, अपना अर्थशास्त्र और अपनी राजविद्या तथा अपना ही विज्ञान हो। 1947 में मिली आज़ादी या कहें राजनीतिक स्वतंत्रता ने हमें अपना भूगोल, वह भी छिन्न-भिन्न कर लौटाया है, बाकी सब हमें विकसित करना है। ऐसा भी नहीं कि वह सब कुछ भारत के पास पहले से नहीं था, लेकिन उन सभी को हमने पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में आकर विस्मृतियों के गर्त में डाल दिया है। आज फिर से उसे याद कर वर्तमान के आलोक में उसे पुनर्सृजित करने की ज़रूरत है। ऐसा करते हुए ही हम गाँधी जी की एक लड़ाई जो जीती गई और दूसरी लड़ाई जो अभी भी लड़ी जा रही है, उसे उसके वांछित निष्कर्ष तक पहुँचा सकेंगे।

विभागाध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

हिन्दी सिनेमा के सौ वर्ष

पंकज तिवारी

3 मई, सन् 1913-पौराणिक चित्रपट 'राजा हरिश्चन्द्र' को प्रदर्शित करते समय-दादा साहब फालके ने सपने में भी न सोचा होगा कि वह मनोरंजन के ऐसे युग का आरम्भ कर रहे हैं, जो आने वाले समय में सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावी जनमाध्यम का स्वरूप ग्रहण कर लेगा। सिनेमा की विधा और तकनीक को संसार में लाने वाले इंग्लैंड, जर्मनी और फ्रांस आदि देशों के फिल्मकार एवं आलोचक भी भारतीय फिल्म उद्योग की प्रगति को देखकर आश्चर्य चकित हैं। 'फिल्म', 'सिनेमा', 'चित्रपट' तथा 'मूव्ही' पूर्ण रूपेण पश्चिमी कला विधा है चाहे उसे कोई नाम दें। इसके बावजूद भारतीय सिनेमा बिलकुल पृथक छवि-अख़्तियार करने में सफल रहा है।

दृश्य माध्यमों की अति के इस कठिन समय में जबकि मनोरंजन तथा सूचना के साधन अनेक हैं एवं सुलभ हैं, एक हजार से अधिक चैनलों का निर्वाध चौबीस घण्टे प्रसारण, तीस करोड़ से अधिक मोबाइल उपभोक्ता और इण्टरनेट का इस्तेमाल करने वालों की संख्या इससे भी कहीं ज़्यादा है। दृश्यों के सैलाब के बावजूद सिनेमा उद्योग की प्रगति उल्लेखनीय रही है।

भारत में फिल्म प्रदर्शन का सिलसिला बहुत पुराना है। सर्वप्रथम सन् 1896 में वॉटसन होटल, बॉम्बे में ल्यूमियर बंधुओं ने अपनी छह अतिलघु फिल्मों का प्रदर्शन किया था। वस्तुतः यहीं से भारत में सिनेमा की यात्रा आरम्भ होती है। उस सम्भवतः प्रथम फिल्म प्रदर्शन के दौरान गणमान्य दर्शकों और राजपरिवारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे सृजनशील युवा उपस्थित थे जो आगे चलकर प्रसिद्ध फिल्मकारों के रूप में प्रतिष्ठित हुये। प्रथम भारतीय फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' के अस्तित्व में आने के पूर्व फिल्म निर्माण के अनेक प्रयासों का उल्लेख मिलता है। हीरालाल सेन, सवे दादा, जे.एफ. मदन आदि फिल्मकारों ने बंगाली नाटकों, नृत्यों और जन अभिरुचि के विषयों पर फिल्मांकन किया था। बीसवीं सदी के आरम्भ में राजे-रजवाड़े और रियासतदार अपने पारिवारिक उत्सवों को छायांकित करते थे और लघु वृत्तचित्र (डाक्यूमेंट्री) बनाते थे। तत्कालीन अँग्रेजी सरकार भी महत्त्वपूर्ण घटनाओं और व्यक्तियों के क्रियाकलापों को दस्तावेजीकरण की दृष्टि से फिल्मांकित करती थी।

आरंभिक दौर में निर्मित अधिकांश फिल्में पौराणिक पृष्ठभूमि पर आधारित होती थीं। इनमें 'लंकादहन' (1917), 'कृष्ण जन्म' (1918), 'कालिया मर्दन' (1919) आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार फिल्मों के निर्माण का यह क्रम 'शौकिया' श्रेणी से निकल कर व्यवसाय के रूप में आकार ग्रहण करने लगता है। सन् 1920 से सन् 1931 तक आते-आते फीचर फिल्मों की संख्या 18 से 200 को पार कर जाती है। पुणे, बम्बई के अतिरिक्त कलकत्ता, मद्रास और लाहौर भी फिल्म निर्माण के बड़े केन्द्रों के रूप में उभरते हैं। धीरे-धीरे यह व्यवसाय बढ़ता जाता है तथा राजकोट, हैदराबाद और बैंगलोर में भी मूक-फिल्मों का निर्माण होने लगता है। हैरानी की बात है कि सन् 1913 से 1931 तक के सालों में बनी फिल्में बे-आवाज अर्थात् मूक फिल्में (सायलेंट सिनेमा) थीं लेकिन इनकी लोकप्रियता बेमिसाल थी।

सिनेमा के दो आधारभूत तत्त्व हैंः दिखाए जा रहे चित्र/दृश्य और सुनाए जा रहे संवाद और संगीत। आज सिनेमा जगत में नवीन तकनीकी और उत्तम उपकरणों के आगमन से 'विजुअल' और 'साउंड' दोनों की गुणवत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। सॉफ्टवेयर और स्पेशल इफेक्ट की सहायता से फिल्मांकित दृश्यों को कई गुना बेहतर और प्रभावशाली बनाने की क्षमता विकसित हो चुकी है। ध्वन्यांकन के पश्चात् सॉफ्टवेयर और साउंड इफेक्ट के माध्यम से विशिष्टता प्रदान की जाती है। मल्टी-ट्रेक रिकार्डिंग तथा मल्टी चैनल्स प्रस्तुतिकरण से आज सिनेमा प्रदर्शन डिजिटल डॉल्बी जैसी आधुनिक ध्वनि उत्पादक प्रविधियों से युक्त है।

'आलम आरा' (1931) को भारत की पहली बोलती फिल्म होने का गौरव प्राप्त है, अधीश्वर ईरानी द्वारा निर्मित यह फीचर फिल्म हिन्दी सिनेमा में मील का पत्थर साबित हुयी। लोकप्रिय गीत 'दे दे खुदा के नाम पे प्यारे' के साथ इस फिल्म में सात गीत थे। दमदार संवादों के साथ इस फिल्म ने सफलता के कई रिकार्ड कायम किये। हिन्दी फिल्मों में गानों को शामिल करने की प्रथा यहीं से आरम्भ होती है। हर फीचर फिल्म में गानों की बाध्यता का क्रम भी यहीं से आरम्भ होता है। यह चलन तेजी से बढ़ता गया और मदन थियेटर की बहुचर्चित फिल्म 'इन्द्रसभा' में गीतों की संख्या 71 तक पहुँच गई यह सिनेमा के इतिहास में फिल्मी गीतों की लोकप्रियता का सबसे बड़ा उदाहरण है।

हिन्दी फिल्मों में गीतों की उपस्थिति को लेकर कई वाद विवाद होते रहते हैं। विशेषतौर पर भारत के बाहर फिल्मों में गानों की मौजूदगी को लेकर प्रश्न चिह्न लगाये जाते रहे हैं। इस बात को लेकर अनेक फिल्मकारों को उपहास और आलोचना का सामना भी करना पड़ा है। फिल्मों में गीत कथाक्रम को आगे बढ़ाते हैं... विषम परिस्थितियों की व्याख्या करने और भावार्थ समझने में सहायक होते हैं किन्तु कथाक्रम से इतर उनका अचानक प्रगटीकरण औचित्य विहीन है।

भारतीय फिल्मों में गीतों की उपस्थिति को लेकर अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। मेरे व्यक्तिगत अनुभव से मैं यह कहना चाहता हूँ चूँकि हिन्दी सिनेमा का जन्म पारसी थियेटर की पृष्ठभूमि से हुआ है अतः गायन पक्ष और अतिनाटकीयता पारसी थियटेर की देन है। तीस और चालीस के दशक में अधिकांश पारसी नाट्य कलाकार और मंडलियाँ फिल्म निर्माण के कार्य में जुट गये थे। इसके अतिरिक्त फिल्मी गीतों का सांस्कृतिक कारण भी है हमारे अवचेतन मन में लोक एवं जनजाति धुनें नैसर्गिक रूप से उपस्थित हैं। जन्म से मृत्यु तक सम्पन्न होने वाले संस्कार किसी न किसी रूप में संगीत से सम्बद्ध हैं। कुल मिलाकर हमारा सांस्कृतिक परिवेश गीत-संगीतमय है। इसका गहरा प्रभाव अन्य कला विधाओं के साथ-साथ भारतीय सिनेमा पर भी दिखाई देता है इसलिये हमारे लिये तो यह यथार्थवाद ही है।

बहरहाल, फिल्म संगीत की लोकप्रियता बढ़ती गई और आगे चलकर फिल्मों की सफलता के लिये अनिवार्यता बनती गई। फिल्म संगीत की दीवानगी ने अन्य सभी संगीत विधाओं को काफी पीछे छोड़ दिया। फिल्म संगीत की लोकप्रियता का कारण है उसकी स्वाभाविक ग्राह्यता - संसार की सभी संगीत शैलियों को अपने में समाहित करने की अनुपम शक्ति - यह शक्ति ही इसे अपराजेय बनाती है।

फिल्म संगीत के इस अद्‌भुत ज़ादू ने कभी न समाप्त होने वाले लाभ के कारोबार को जन्म दिया। पचास और साठ के दशक में अनेक संगीत कम्पनियाँ अस्तित्व में आईं-ग्रामोफोन रिकार्ड/डिस्क बनने का सिलसिला आरम्भ हुआ। ऑल इंडिया रेडियो के विस्तार से फिल्म संगीत ग्रामीण और दूरस्थ आंचलिक क्षेत्रों तक पहुँच गया। इस तरह फिल्म निर्माण में संगीत निर्देशक, गीतकार और गायकों की स्वतंत्र पहचान बनती गई। अभिनेताओं की भाँति लोग गायकों को उनकी आवाज़ से पहचानने लगे। के.एल. सहगल, बेग़म अख़्तर, सुरैया, शमशाद बेगम से लेकर लता मंगेशकर, मौहम्मद रफी, किशोर कुमार, हेमन्त कुमार, मुकेश आदि कलाकार अपनी आवाज़ से लोगों की पसन्द बन गये। शंकर-जयकिशन, नौशाद, मदन-मोहन, आर.डी. बर्मन, कल्याण जी-आनन्द जी, लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल, नदीम-श्रवण आदि संगीतकारों ने फिल्म संगीत को विशिष्ट बनाने में योगदान दिया। तकनीक बदली ग्रामोफोन से कैसिट, सी.डी. आदि आने तक फिल्मसंगीत लाभ का व्यवसाय बना रहा। किन्तु सन् 1995 के बाद प्रचलन में आई डिजिटल तकनीक और इण्टरनेट का प्रसार संगीत उद्योग के लिये घातक सिद्ध हुआ। इंटरनेट माध्यम ने संगीत और फिल्म पायरेसी को और भी आसान बना दिया। अतः फिल्म संगीत घाटे का सौदा साबित हुआ। अब फिल्म में गाने की अनिवार्यता नहीं रही। सन् 2010 के पश्चात ऐसी फिल्में बनी जिनमें गानों की संख्या कम है या गीत हैं ही नहीं। हिन्दी फिल्मों में गीत अब मात्र रस्म अदायगी की तरह बचे हुये हैं सिवाय आइटम साँग के जो फिल्मों की व्यावसायिक सफलता के लिये अभी भी अनिवार्य माना जा रहा है।

बीते सौ सालों में हिन्दी सिनेमा ने बदलते भारत को नज़दीक से देखा है। इसीलिये हिन्दी सिनेमा में अनगिनत विषय दिखाई देते हैं। आजादी के पूर्व से ही हिन्दी सिनेमा में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और प्रगतिवादी दर्शन का समावेश है। अनेक ऐसे फिल्मकार हैं जिन्होंने सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वास को उजागर करने वाली सार्थक फिल्में बनाई हैं। व्ही. शांताराम की उन क्रांतिकारी फीचर फिल्मों का उल्लेख यहाँ पर आवश्यक है जो आज भी समसामयिक प्रतीत होती हैं। इनमें प्रमुखतः 'अमृत मंथन', 'अमर ज्योति', 'दुनिया न माने' 'आदमी' और 'पड़ोसी' शामिल हैं। आज़ादी के लिये जन मानस की छटपटाहट, सामाजिक वर्ग-संघर्ष, जातिवाद, शहरीकरण और दुर्भिक्ष (अकाल) की भयावहता उस दौर की फिल्मों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

आम आदमी के सुख-दुख और जीवन शैली को प्रकट करने के लिये 'बॉम्बे टॉकीज़' की भूमिका सराहनीय रही है। बॉम्बे टॉकीज़ के बैनर तले निर्मित फिल्मों में 'कंगन', 'बंधन', 'झूला', 'वसंत' और 'किस्मत' सदाबहार हैं।

चालीस और पचास के दशक फिल्म सहित सभी कला माध्यमों के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि इसमें द्वितीय विश्वयुद्ध से उपजे राजनैतिक विद्वेश का सम्पूर्ण विश्व पर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अस्तित्त्ववाद और नये यथार्थवाद से प्रभावित रचनाधर्मियों और कलाकारों ने सृजन के लिये नवीन विषयों की खोज की एवं अभिव्यक्ति का तरीका भी बदला।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सन् 1950 में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह का आयोजन किया था। इसमें दर्शकों के साथ-साथ भारतीय फिल्मकार भी विश्व की उत्कृष्ट फिल्मों से रूबरू हुये। इस फिल्म समारोह के बाद भारतीय सिनेमा में नई दृष्टि और ताज़गी का संचार होता है। आगामी वर्षों में सार्थक फिल्मों के निर्माण का क्रम दिखाई पड़ता है। सत्यजित रे, बिमल रॉय, गुरुदत्त, महबूब खान, ऋत्विक घटक, के. आसिफ, राजकपूर जैसे मूर्धन्य फिल्मकार अपनी विशिष्ट रचनाधर्मिता से 'पाथेर पांचाली', 'दो बीघा जमीन', 'औरत', 'रोटी', 'अंदाज', 'मदर इण्डिया', 'प्यासा', 'कागज के फूल', 'आवारा' जैसी कालजयी फिल्मों का निर्माण करते हैं जो आज के फिल्मकारों के लिये प्रेरणास्पद हैं तथा अनेक फिल्म पाठ्यक्रमों का हिस्सा भी बनी हुई हैं। गौरतलब है कि अपेक्षाकृत सस्ते और सुलभ संसाधनों के कारण रंगीन फिल्मों के स्थान पर फिल्मकारों ने श्वेत-श्याम (ब्लैक एण्ड व्हाइट) माध्यम को चुना। भारतीय सिनेमा की अद्वितीय फिल्मों के निर्देशक गुरुदत्त की फिल्म 'कागज के फूल' भारतीय क्लासिकल सिनेमा का उत्कृष्ट उदाहरण मानी जाती है। इसी क्रम में के. आसिफ कृत -'मुग़ल-ए-आज़म' (1960) की चर्चा आवश्यक है। तकनीकी कौशल और निर्देशन के कारण यह फिल्म मील का पत्थर मानी जाती है। विशेष तौर पर शीशमहल में फिल्मांकित गीत के छायांकन और प्रकाश परिकल्पना के मामले

में 'मुग़ल-ए-आज़म' के सिनेमेटोग्राफर आर.डी. माथुर को याद किया जाता है। लगभग डेढ़ करोड़ की लागत से निर्मित यह फिल्म उस दौर की सबसे मँहगी फिल्म थी, जबकि सम्पूर्ण फिल्म श्वेत-श्याम थी। इसमें केवल एक गीत रंगीन फिल्म पर फिल्मांकित किया गया था।

सन् 1970 तक की यात्रा में भारतीय सिनेमा की निर्माण प्रक्रिया और कथानक बदलते चले गये। अस्सी के दशक में हिन्दी सिनेमा ने अपना नया कलेवर धारण किया। अब अपेक्षाकृत अधिक व्यावसायिकता का समावेश था। आधुनिकीकरण, शहरीकरण तथा सामाजिक वर्ग-संघर्ष का असर इस दौर के सिनेमा पर साफ दृष्टिगोचर होता है। कहानी को बयाँ करने का अंदाज़ बदल गया, गढ़े जाने वाले चरित्र, सामग्री एवं संरचना के स्तर पर भी परिवर्तन दिखाई देता है। मसाला फिल्मों की माँग, मनोरंजन के बाज़ार में चारों ओर से आ रही थी फलस्वरूप 'फार्मूला फिल्म' जैसे पद सामने आए। इस तरह की फिल्मों की शृंखला में रमेश सिप्पी निर्देशित 'शोले' (1975) ने समस्त रिकार्ड तोड़ दिये और आज भी बॉलीवुड की सर्वश्रेष्ठ व्यावसायिक फिल्म के रूप में विख्यात है।

यह दौर अभिनेताओं से सितारे बनने का दौर है इसमें राजेश खन्ना, धर्मेन्द्र, जितेन्द्र, दिलीप कुमार, विनोद खन्ना, संजीव कुमार, मनोज कुमार मंझे हुये कलाकारों से आगे निकल कर 'एंग्री यंगमैन' के रूप में अमिताभ बच्चन का पदार्पण होता है। जो एक के बाद एक सफल फिल्मों के माध्यम से अभिनय की बुलंदियों को छूते नज़र आते हैं। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि व्यावसायिक सिनेमा से सर्वथा भिन्न एक अन्य सिनेमा की धारा भारत में उपस्थित रही है जिसे आलोचक कई नामों से संज्ञा देते रहे हैं जैसे, समानान्तर सिनेमा, नया सिनेमा आदि। सत्तर के दशक के पश्चात समानान्तर सिनेमा तेजी से मुखर होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देखे गये सपनों का टूटना, अपेक्षाओं का निरादर, राजनैतिक छल और मोहभंग के कारण सिनेमा की यह धारा कुछ इसी तरह अभिव्यक्त होती है इसे फिल्मकार 'कला फिल्म' (आर्ट मूव्ही) भी कहते हैं क्योंकि इसमें कलात्मकता तथा उद्देश्य की बाध्यता होती है, व्यावसायिकता की नहीं।

समानान्तर सिनेमा को वामपंथी विचारधारा से जोड़कर सदैव आन्दोलन के रूप में भी देखा जाता है। प्रतिबद्ध निर्देशकों की पूरी जमात इसमें शामिल है। सत्यजित रे, तपन सिन्हा, मणिकौल, श्याम बेनेगल, सईद मिर्ज़ा, सई परांजपे, मृणाल सेन, गोविन्द निहलानी, गुलज़ार, अड्डूर गोपाल कृष्ण आदि ने उच्च कोटि की कला फिल्मों का निर्माण किया था, इसमें आक्रोश (1980), अर्धसत्य (1983), अर्थ (1982), भूमिका (1977), बाज़ार (1982), द्रोहकाल (1994), मंडी (1982), स्पर्श (1980) तथा उत्सव (1984) शामिल है।

व्यावसायिकता से पृथक दुर्लभ कथानकों पर केन्द्रित इन फिल्मों ने फिल्म कला के मानदण्डों के साथ-साथ 'अभिनय कला' को भी स्थापित किया। शबाना आज़मी, स्मिता

पाटिल, अमोल पालेकर, ओमपुरी, नसीरूद्दीन शाह, फारुख शेख, पंकज कपूर आदि समानान्तर सिनेमा के कारण प्रसिद्ध हुये तथा आगामी वर्षों में व्यावसायिक सिनेमा में भी अपना स्थान बना पाये।

पिछली सदी के अंतिम दशक की सबसे बड़ी घटना थी भारत में 'केबिल टी.व्ही.' और 'सेटेलाइट चैनल्स' का तेजी से विकास। मनोरंजन के सुलभ और सस्ते विकल्प के रूप में यह माध्यम लोकप्रियता की सीमाएं लांघ गया। टी.व्ही. चैनल्स की संख्या के साथ पहुँच भी बढ़ती गई। कयास लगाए जाने लगे कि सिनेमा उद्योग पर इसका प्रतिकूल असर होगा किन्तु ऐसा नहीं हुआ बल्कि सिनेमा ने टी.व्ही. चैनल्स को प्रचार-प्रसार के लिये इस्तेमाल किया और प्रतिवर्ष निर्मित होने वाली फीचर फिल्मों की संख्या चार सौ से अधिक हो गयी। इसी दौर में, फिल्म उद्योग विवादों से घिरा नज़र आया। आपराधिक तत्त्वों के साथ बॉलीवुड के सम्बन्धों का खुलासा होने से एक ओर दर्शकों का विश्वास टूटा दूसरी ओर सरकारी शिकंजा कसने से प्रतिवर्ष निर्मित होने वाली फिल्मों की संख्या दो सौ के आस-पास पहुँच गई। बढ़ती पायरेसी के कारण सिनेमा जगत को भारी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ा। संगीत उद्योग भी इससे अछूता न रहा। पायरेसी ने संगीत के एलबम बनाने वाली कम्पनियों की कमर तोड़ दी। इंटरनेट और मोबाइल के बढ़ते चलन ने संगीत के व्यवसाय को जड़ से खत्म करने का काम किया है। पायरेसी के लिये बनाये गये नियम कानून नाकाफी सिद्ध हो रहे हैं। वैसे भी पायरेसी आत्मानुशासन का विषय है। यदि लोग पायरेटेड सामग्री देखना छोड़ दें तो यह मामला अपने आप समाप्त हो जाएगा।

सेटेलाइट सिनेमा प्रदर्शन प्रणाली ने भारतीय सिनेमा को पायरेसी से कुछ हद तक राहत दिलाने का कार्य किया है। इस नवीन प्रणाली के माध्यम से उपग्रह द्वारा, एक साथ, देश भर में स्थित हजारों सिनेमा घरों में फिल्म प्रदर्शन किया जा सकता है। आजकल यह प्रणाली तेजी से लोकप्रिय हो रही है क्योंकि इसमें फिल्म प्रिंट की लागत न के बराबर हो गई है और इसका लाभ निर्माता-निर्देशकों को प्राप्त हो रहा है। त्वरित फिल्म प्रदर्शन के कारण पायरेसी का खतरा कम हुआ है। दूसरी ओर चौबीसों घंटे के टी.व्ही. प्रसारण से ऊबे लोग पुनः सिनेमाघरों में जाकर फिल्म देखने के लिये विवश हुये हैं। यह पुराना चलन वापस लौटता नज़र आ रहा है फलस्वरूप नये निर्माता निर्देशक जोखिम उठा रहे हैं एवं कम बजट वाली ढ़ेरो फिल्में प्रदर्शित हो रही हैं जो आम जनता के जीवन के काफी निकट हैं। आजकल ऐसे विषयों पर भी फिल्म निर्माण सम्भव हो पाया है जो किसी समय में फिल्म के लिये उपयुक्त ही नहीं समझे जाते थे।

'लगान' फिल्म के ऑस्कर में पहुँचने के पश्चात् 'स्लमडॉग मिलेनियर' को ऑस्कर पुरस्कार प्राप्त होने से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय सिनेमा को नई पहचान मिली है। इसके अतिरिक्त सिनेमा के उन महत्त्वपूर्ण पक्षों को रेखांकित करना उचित होगा जिनके कारण फिल्म

जगत गौरवान्वित है। पहला तो यह कि भाषायी संक्रमण के इस घनघोर समय में हिन्दी की पताका लहराने का काम सिनेमा ने निरन्तर किया है; और दूसरा राष्ट्रीय एकता, देश भक्ति और भेदभाव मिटाने के लिये हिन्दी सिनेमा ने लगातार गम्भीर प्रयास किये हैं। पिछले वर्षों में, हिन्दी सिनेमा की दिशा प्रयोगधर्मी हुई है। विदेशी सिनेमा की तर्ज पर फिल्मों के कथानक और निर्माण की तकनीक में आशातीत परिवर्तन आया है। आजकल विश्व के लगभग एक सौ सत्तर देशों में भारतीय फिल्में देखी जा रही हैं, जो भारतीय सिनेमा के लिए गौरव की बात है।

निर्माता
शैक्षणिक बहुमाध्यम अनुसंधान केन्द्र (ई.एम.आर.सी.)
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

संदर्भ -

1. *हंडरेड इयर्स ऑफ इंडियन सिनेमा, डी.ए.व्ही.पी., सूचना प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार (नई दिल्ली)।*
2. *माथुर श्याम, सिने पत्रकारिता, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2008।*
3. *चड्ढ़ा मनमोहन, हिन्दी सिनेमा का इतिहास।*
4. *ओझा अनुपम, भारतीय सिने सिद्धांत, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002।*
5. *रे सत्यजित, चलचित्र कल और आज, राजपाल एण्ड संस दिल्ली, 1992।*
6. *तिवारी पंकज, वृत्तचित्र निर्माण कला, सरोज प्रकाशन, सागर, 2012।*

''सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है।'' - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हिन्दी मेड ईजी

के. कृष्णा राव

सरकारी दफ्तरों में इस्तेमाल होने वाली राजभाषा हिन्दी ज्यादातर आम लोगों के लिए अबूझ होती है। सरकारी कामकाज से संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को हटाने और रोजमर्रा की आसान जबान के इस्तेमाल को बढ़ाने के लिए भारत सरकार ने बाकायदा एक आदेश जारी किया है। हिन्दी भारत की राजभाषा है और भारत सरकार से जुड़े हर दफ्तर में हिन्दी को बढ़ावा देने के लिए अधिकारियों को नामित किया जाता है। केन्द्रीय गृह मंत्रालय के राजभाषा विभाग ने अपने एक पाँच पन्नों के पत्र में सरकारी दफ्तरों से आग्रह किया है कि अपनी सरकारी लिखा पढ़ी में कामकाज की भाषा का इस्तेमाल करें, न कि साहित्यिक भाषा का। इस पत्र में साफ-साफ कहा गया है कि राजभाषा में कठिन और कम सुने जाने वाले शब्दों का इस्तेमाल राजभाषा को अपनाने में हिचकिचाहट को बढ़ाता है। उर्दू, अँग्रेजी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं के लोकप्रिय शब्द भी खुल कर प्रयोग में लाये जाएँ।

इस पत्र में यह भी आग्रह किया गया है कि कठिन बोझिल और गढ़ कर शब्द लिखने की जगह अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्द लिखना बेहतर होगा। उदाहरण देते हुए कहा गया है कि 'प्रत्याभूति' की जगह 'गारंटी' लिखना, 'अनुच्छेद' की जगह अँग्रेजी शब्द 'पैरा' का इस्तेमाल बेहतर होगा। इसी तरह से मध्याहृन भोजन की जगह केवल 'लंच', 'व्यंजन सूची' की जगह 'मेन्यू' और 'अभिलेख' की जगह 'रिकॉर्ड' कहा जा सकता है। सरकारी हिन्दी कोई अलग किस्म की हिन्दी नहीं है। यह काफी नहीं है कि लिखने वाला खुद अपनी बात समझ सके कि उसने क्या लिखा है, ज़रूरी यह है कि पढ़ने वाले को समझ में आ जाए कि लिखने वाला क्या कहना चाहता है।

इस पत्र से हिन्दी प्रेमी और सरकार के नीति निर्धारकों के बीच एक अघोषित बहस चल पड़ी है। बहुत से प्रश्न किये जा रहे हैं और उनके उत्तर भी तलाशे जा रहे हैं।

भारत सरकार का राजभाषा विभाग अपनी वेब साईट पर हिन्दी के विषय में लिखता है कि हिन्दी भाषा एक अत्यन्त अभिव्यंजक भाषा है। इसके साहित्यिक तथा लोकप्रचलित काव्य एवं गीतों में प्रांजल एवं मधुर शब्दावली का सहज प्रयोग भावों की बोधगम्यता को और भी सरल

और सम्प्रेषणीय बना देता है। यही नहीं, अपने गंभीर एवं बौद्धिक भाषिक स्वरूप के कारण हिन्दी सटीक तथा युक्ति मूलक विवेचन हेतु भी प्रयुक्त होने में सर्वथा समर्थ है। हिन्दी का सम्बन्ध भारोपीय भाषा परिवार की उपशाखा भारत-ईरानी (अथवा आर्यशाखा) के भारतीय आर्यशाखा समूह से है। इसे संघ की राजभाषा होने का गौरव प्राप्त है तथा इसकी लिपि देवनागरी है। हिन्दी लगभग 18 करोड़ से भी अधिक भारतवासियों की मातृभाषा है। 30 करोड़ से अधिक लोगों ने इसे द्वितीय भाषा के रूप में अपनाया है। देश की भौगोलिक सीमाओं से बाहर अन्य देशों में हिन्दी बोलने वालों की संख्या पर दृष्टि डालें तो यह संख्या संयुक्त राज्य अमेरिका में 1,00,000, मॉरीशस में 6,85,170, दक्षिण अफ्रीका में 8,90,292, यमन में 2,32,760, युगांडा में 1,47,000, सिंगापुर में 5,000, नेपाल में 80 लाख, न्यूज़ीलैंड में 20,000 तथा जर्मनी में 30,000 ठहरती है।

'देव' और 'नागरी' इन दो शब्दों से निर्मित शब्द 'देवनागरी' को कभी-कभी एक साथ जोड़ कर लिखा जाता है तो कभी इसे दो अलग-अलग शब्दों में देव नागरी के रूप में भी लिखते हैं। अधिकतर भाषाएँ, इनमें भी विशेषतः हिन्दी और संस्कृत, 'देवनागरी' या नागरी लिपि में लिखी जाती हैं। मराठी भाषा के लिए एक-दो अतिरिक्त वर्णों के अलावा, इसका यथावत् प्रयोग किया जाता है। तथा भारत भर में गुजराती तथा अन्य कई भाषाओं में इस लिपि के स्थानीय परिवर्तित रूप प्रयुक्त होते हैं। वेद पुराण आदि कई हिन्दू धर्मग्रन्थ देवनागरी में ही रचे गए हैं, जबकि ब्राह्मी तथा इसके परिवर्तित रूपों में शिलालेख और पट्ट-आलेख उपलब्ध हैं। अतः इतिहासविदों तथा पुरातत्त्वविदों के लिए देवनागरी को जानना-समझना अत्यावश्यक माना गया है। देवनागरी दो भिन्न शब्दों से बना समस्त पद है : देव अर्थात् ईश्वर अथवा उपास्य तथा नागरी अर्थात् मूलतः नगर अथवा शहर से सम्बन्धित। इस शब्द की व्युत्पत्ति यह बताती है कि एक काल विशेष में यह लिपि एक मुख्य बौद्धिक व्यवहार के लिए प्रयुक्त होती होगी। इसके सुयोजित निर्माण में कार्यरत रही बौद्धिकता की सतर्कता का यह एक सशक्त उदाहरण है।

7वीं ईसवी में हिन्दी का आविर्भाव अपभ्रंश से हुआ। 10वीं सदी के अन्त तक इसके स्वरूप में स्थिरता आ गई। ब्रज, अवधी तथा खड़ी बोली आदि हिन्दी की बोलियाँ अथवा उपभाषाएँ हैं। हिन्दी का वर्तमान साहित्यिक मानक रूप खड़ी बोली पर आधारित है जिसमें उक्त उपभाषाओं की मिश्रित विशेषताएँ सन्निहित हैं। सन् 1947 के पश्चात् हिन्दी ने भारत की राष्ट्रभाषा के साथ-साथ राजभाषा का गौरव भी प्राप्त किया।

राजभाषा अर्थात सरकारी कामकाज की भाषा। हमारे देश में आर्य काल में संस्कृत, बुद्ध से ईसा काल तक पाली (व्याकरण रहित जनभाषा), ईसा से 500 ई. तक प्राकृत भाषा, 500 ई. से मुगल काल तक अपभ्रंश भाषा, मुगल काल में फारसी, और अँग्रेजों के शासन काल में अँग्रेजी के साथ कोर्ट में खड़ी बोली (उर्दू हिन्दी) का प्रयोग किया गया। स्वतंत्र भारत में भी अघोषित रूप से यह दर्ज़ा अँग्रेजी को ही मिला हुआ है।

कुछ भाषाई विद्वानों का तर्क यह है कि अँग्रेजी एक सरल, समृद्ध, विज्ञान-तकनीक और शिष्ट जनों की भाषा है। अँग्रेजी के बारे में यह कहा जाता है कि अँग्रेजी इतनी सरल है कि उसे 60 दिन में कोचिंग सेण्टर से सीखा जा सकता है। भारत में अँग्रेजी के बिना कोई काम नहीं हो सकता। भारत में विज्ञान और तकनीकी को आगे बढ़ाना है तो अँग्रेजी के बिना कुछ नहीं हो सकता, भारत में आज हर कहीं अँग्रेजी का बोलबाला है। हमारे देश में राजकीय कामकाज, न्यायपालिका, उच्चशिक्षा, स्वास्थ्य और कृषि क्षेत्रों में अँग्रेजी ही चलाई जा रही है। कृषि क्षेत्र में बीज, खाद, कीटनाशक और यहाँ तक कि दवाओं की प्रयोगविधि भी अँग्रेजी में ही छप रही है। इस तर्क पर बहुत सी शंकाये निरुत्तरित हैं।

हिन्दी प्रेमियों का तर्क है कि यदि अँग्रेजी इतनी सरल है कि उसे 60 दिन में कोचिंग सेण्टर में सीखा जा सकता है तो हमारे बच्चों को नर्सरी से बारहवीं कक्षा तक अँग्रेजी भाषा सिखाने में समय क्यों व्यर्थ किया जा रहा है? एक शोध बताता है कि अँग्रेजी में हमें छः गुना ज्यादा मेहनत लगती है। हिन्दी में पहाड़ा और अँग्रेजी में उसी टेबिल को याद करने में बच्चों को छः गुना ज्यादा मेहनत लगती है। जब अँग्रेजी की शब्दावली हिन्दी से भी कम है तो फिर अँग्रेजी समृद्ध कैसे हो सकती है? इसी प्रकार विज्ञान तकनीक की शिक्षा कैसे हो सकती है? हमारे देश में 22 भाषाएँ और 3280 बोलियाँ हैं। इन सबमें हिन्दी ही एक मात्र समृद्ध भाषा है जिसे 121 करोड़ की जनसंख्या में से 88 करोड़ देशवासी अच्छी तरह से समझते हैं। इसके विपरीत विश्व के 14 देशों में से मात्र 30 करोड़ लोग ही अँग्रेजी बोल या समझ पाते हैं। अँग्रेजी में छपी कृषि क्षेत्र में बीज, खाद, कीटनाशक के नाम और यहाँ तक कि दवाओं की प्रयोगविधि को देश का कोई भी किसान समझ नहीं पाता है।

भारत में जहाँगीर के समय पहली बार अँग्रेज भारत में आये उस समय भारत में 565 रजवाड़े हुआ करते थे और अँग्रेजों ने उन सभी राज्यों से अँग्रेजी में संधि कर के उन सभी का राज्य एक-एक कर के हड़प लिया, क्योंकि हमारे यहाँ जो राजा थे उन लोगों को अँग्रेजी नहीं आती थी, जो कि स्वाभाविक था, इसलिए वे इन संधियों के मकड़जाल में फँस गए।

आजादी की लड़ाई के समय सभी दौर के क्रांतिकारियों का एक विचार था कि भारत, अँग्रेज और अँग्रेजी दोनों से आज़ाद हो और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी स्थापित हो। जून, 1946 में महात्मा गाँधी ने कहा था कि आज़ादी मिलने के 6 महीने के बाद पूरे देश की भाषा हिन्दी हो जाएगी और सरकार के सारे कामकाज की भाषा हिन्दी हो जाएगी। संसद और विधानसभाओं की भाषा हिन्दी हो जाएगी, किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

हिन्दी प्रेमियों का तर्क यह भी है कि हमें आजादी मिले तो 67 साल हो गये हैं किन्तु आज भी अँग्रेजियत की गुलामी बरकरार है। इसका एक कारण हमारे संविधान के अनुच्छेद 343 के पैरा तीन में लिखी वह इबारत है जिसमें किसी भी राज्य द्वारा हिन्दी के विरोध पर अँग्रेजी

को ही पूरे देश में लागू रखने की बात कही गई है। इसी प्रकार अनुच्छेद 348 में अँग्रेजी को कानून-न्यायपालिका की प्रमाणिक भाषा माना गया है। विधान के नजरिये से हिन्दी आज भी इस देश की राष्ट्रभाषा नहीं है। हिन्दी राष्ट्रभाषा बने इसके लिये सन् 1954 में हिन्दी व्याकरण निर्माण समिति, 1955, 1963 में राजभाषा अधिनियम, 1965 आदि में कई संसदीय समितियाँ बनी किन्तु निष्कर्ष के तौर पर 1967 में वही पुरानी बात दोहराई गई कि जब तक एक भी राज्य में हिन्दी का विरोध होगा अँग्रेजी ही देश में चलती रहेगी । हिन्दी को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने की संविधान की भावना के अनुपालन की दिशा में 1 मार्च, 1960 को शिक्षा मंत्रालय (अब उच्चतर शिक्षा विभाग, मानव संसाधन मंत्रालय) के अधीन केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की स्थापना हुई। इसके चार क्षेत्रीय कार्यालय हैं जो चेन्नई, हैदराबाद, गुवाहाटी और कोलकाता में स्थित हैं।

इन प्रयासों के बाद भी आज हिन्दी तो नाम मात्र की 'राजभाषा' है। तभी तो हमें हिन्दी पर चर्चा करने के लिये साल भर में 1 दिन, एक सप्ताह या अधिक से अधिक एक पखवाड़ा मिलता है।

हिन्दी एक परिपूर्ण भाषा है। हर भाव की अभिव्यक्ति के लिये हिन्दी में शब्द हैं। ऐसे में हिन्दी में कामकाज हो तो वो बड़ी संवेदनशीलता से पूर्ण होता है। इसके विपरीत अँग्रेजी में लिखी गई बात अहंकार और हठ की प्रतीक स्वरूप लगती है। राजभाषा का अर्थ सिर्फ मुखिया या राजा की भाषा नहीं होता। मंत्री और अधिकारी जिस भाषा में कामकाज की सहजता महसूस करें वह भाषा राजभाषा हो सकती है।

विश्व में ऐसे भी कई देश है जिनमें एक से अधिक राष्ट्रभाषाएँ हैं। स्विट्जरलैण्ड में 4 राष्ट्रभाषाएँ, जर्मन, फ्रेंच, इतालवी और रुमांश है। कनाडा में अँग्रेजी और फ्रेंच, राष्ट्रभाषाएँ हैं। सन् 1917 में साम्यवादी क्रान्ति से पूर्व रूस में फ्रांसीसी को प्रमुख और रूसी को पिछड़ी भाषा माना जाता था, मात्र क्रान्ति के बाद सोवियत संघ में 16 राष्ट्रभाषाएँ थी और अब रूस में एक राष्ट्रभाषा रूसी है। विश्व के 207 देशों में से 71 देश कभी न कभी गुलाम रहे हैं किन्तु आज़ादी के बाद जिन देशों ने अपनी मातृभाषा को राष्ट्रभाषा बनाया वे ही समृद्ध, शक्तिशाली और विकसित बन सके। चीन, जापान, स्वीडन, फिनलैण्ड, डेनमार्क, नार्वे, ब्राजील इत्यादि अनेक देश इसके उदाहरण हैं। इन देशों ने भाषा का एक नया दर्शन प्रस्तुत किया है : ''किसी देश का विकास पूँजी या तकनीक से नहीं बल्कि संकल्प शक्ति से होता है और संकल्प विदेशी भाषा में नहीं अपितु मातृभाषा में लिये जाते हैं।'' दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मातृभाषा में लिये गये संकल्प या शपथ की आवाज अन्तरात्मा तक जाती है और मनुष्य को जागृत तथा क्रियाशील रखती है। इस भावना से ही देश प्रगति करता है।

भारत के संविधान के भाग 17 के अध्याय 4 के अनुच्छेद 351 में हिन्दी भाषा के विकास के लिए दिया गया विशेष निर्देश इस प्रकार है :- ''संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों के

अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी में और आठवीं अनुसूची में विर्निदिष्ट भारत की अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात् करते हुए और जहाँ आवश्यक या वाँछनीय हो वहाँ उसके शब्द भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।''

हिन्दी भाषा प्राचीन आर्य भाषा संस्कृत की मूल वंशज है जो मध्यकालीन आर्यभाषाओं- प्राकृत एवं अपभ्रंश की भाषिक परम्पराओं से अपना स्वरूप ग्रहण करती हुई विकसित हुई है। यह द्रविड़, तुर्की, फारसी, अरबी, पुर्तगाली तथा अँग्रेजी भाषाओं के प्रभावों को अपनी व्यापकता में समेटती रही है तथा इन विभिन्न भाषिक विशेषताओं के वैविध्य से स्वयं सुसमृद्ध होती रही है। हिन्दी भाषा में विदेशी भाषाओं के शब्दों के प्रयोग से हिन्दी का शब्द भण्डार अति समृद्ध हुआ है।

जैसे - तुर्की भाषा से - लाश, सराय, गलीचा, चाकू, कैंची आदि।

फारसी भाषा से - फौज़, हलवाई, जिन्दा, साफ, ईमानदार, बीमार आदि

अरबी भाषा से - मुक़दमा, इलाज, किताब, कलम आदि

पुर्तगाली से - गोभी, कॉफी, चाय, बाल्टी आदि

अँग्रेजी भाषा से - बस, लॉरी, स्टेशन, स्कूल, कॉलेज आदि

फ्रांसीसी भाषा से - कप, लेम्प, मेयर, मास्टर आदि शब्द पहले से ही हिन्दी में समाहित हो चुके हैं।

हिन्दी में इस तरह के हजारों शब्द पिछले सैंकड़ों वर्षों में जुड़े हैं और आज की हिन्दी विश्व की सबसे समृद्ध भाषा है। हिन्दी को समृद्ध बनाने में कबीर, गोस्वामी तुलसीदास, बिहारी, मुंशी प्रेमचन्द, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, महाकवि जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पंत, यशपाल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह दिनकर, नागार्जुन, विष्णु प्रभाकर, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', फणीश्वर नाथ रेणु, श्रीलाल शुक्ल, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, निर्मल वर्मा का योगदान भारत सरकार के राजभाषा विभाग की वेब साईट पर भी दर्ज़ है।

हिन्दी भाषा के माध्यम से जन-जन को जोड़ने और हिन्दी को वैश्विक धरातल पर प्रतिष्ठित करने के लिए किये गये इस सरकारी प्रयास से हिन्दी का एक नया समृद्ध स्वरूप उभरकर आयेगा। इस हिन्दी को अभी से ही नया नाम 'हिंगलिश' दिया जाने लगा है। किन्तु यह भी सच है कि जिस साहित्यिक हिन्दी को हिन्दी प्रेमी, राजभाषा से राष्ट्रभाषा बनाने का सपना देख रहे थे अब उन्हें भी नई हिन्दी सीखनी ही पड़ेगी क्योंकि अब हिन्दी ईजी हो गई है।

प्रभारी, विश्वविद्यालय कम्प्यूटर सेंटर
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

एक ही चेहरा

पंकज चतुर्वेदी

कुशीनगर में एक प्रसिद्ध
प्रतिमा है बुद्ध की

एक कोण से देखें तो लगता है
मुस्करा रहे हैं बुद्ध
दूसरे कोण से वे दिखते हैं
कुछ विषादित विचार-मग्न
तीसरे कोण में हैं
जीवन्मुक्ति की सुभगता -
एक अविचल शान्ति

कृपया इसे समुच्चय न समझें
तीन भाव-मुद्राओं का
केवल मुस्करा नहीं सकते थे बुद्ध

उनकी मुस्कराहट में था विषाद
और इनके बीच थी
निस्पृहता की आभा
अथवा मध्यमा प्रतिपदा

श्रेष्ठ है
पत्थर तराशने की यह कला
पर उससे श्रेष्ठ है
इस कला का अन्तःकरण
जो यह जान सका
कि वह तीन छवियों में समाहित
एक ही चेहरा था बुद्ध का

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग,
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

कागज़-कलम-शब्द

दिनेश अत्रि

कागज़

(i)

जितनी कि हो सकती है
दुनिया में कोई भी चीज़
इतना सरल
इतना सीधा
इतना मासूम
... कागज़!

पर यह क्या
कि छूटने लगता है पसीना
घिग्घी जाती है बँध
फूटता नहीं एक भी लफ्ज़

जब भी
पड़ता हूँ
उसके आगे

(ii)

दिखने का ही है भोलाभाला
छिपाए हुए है भीतर मगर
एवरेस्ट से भी ऊँचे शिखर
अतलांत से गहरे समुद्र
बरमूडा से भी गूढ़ प्रहेलिकाएँ
चम्बल से भी दुर्गम बीहड़
बड़े इमामबाड़े से भी बड़ी भूलभुलैयाँ
अज़रबैजान की लोकगाथाओं से भी
अजब और अजानी गाथाएँ
कुस्तुनतूनियाँ से बड़ी कारस्तानियाँ
प्लेटो से ज़्यादा अफलातून
और न जाने कितने व्यूह
कितने कूट, कितने अबूझमाड़!
तभी तो डरते हैं उतरने
कागज़ पर शब्द

(iii)

कलम करता रहता है कागज़ आदतन
फिर भी उफ़ नहीं
थोड़ी देर रुकती है
फिर चलने लगती है कलम
आदतन

कलम

बेगाने हो जाते हैं पंथी, परिंदे
एक-एक कर झर जाते फूल पात
उतर जाती है छाल
निचुड़ता है रस
धीरे-धीरे सूखती अन्तर की मज्जा
गुज़र जाता है पूरा का पूरा वसंत...
सुगबुगाती नहीं एक भी कोंपल
तब जाकर बनती है कोई शाख कलम

शब्द

(i)

तुम लिखो शब्द
सिर्फ शब्द
और तुम्हें पता भी नहीं चलेगा
तुमने रच डाला है चमत्कार
कि क़ागज़ क़लम दवात
आ गए कब पास!

(ii)

अवशिष्ट
व्याकरण चिह्नों के गिर्द
आहत शून्य...

तुम
वर लो मुझे
ओ शब्द!

(iii)

जितना दिखते हैं
उतने भोले नहीं
कैकयी हैं शब्द
हठीले, नकचढ़े
करवाते चिरौरी
उठवाते हलफ़
छिना लेते राजपाट
तब जाकर कहीं
छोड़ते कोप भवन
ऐरा गैरा नहीं
कि यूँ ही उतर आएँ
कागज़ पर शब्द!

(iv)

सुधर सकूँ
पा सकूँ खुशख़त
अपने को रबर से लिखता हूँ
दम नहीं कि रोशनाई में डुबोऊँ कलम!

(v)

प्रसूति में जिस तरह
उतर आता है दूध
उतर सकते हैं कलम की नोक पर शब्द!

(vi)

कितना अच्छा होता
हम खोंस देते कलम
उढ़ेल देते स्याही भरी दवात
और प्रतीक्षा करते
शब्दों और बिम्बों के फूटने की...
जैसे फूलों की प्रतीक्षा करते हों बच्चे
उस टहनी पर जो उन्होंने
खोंस दी हो, सींच दी हो अभी-अभी
अंजुलिभर जल से!

प्रोफेसर
वनस्पति विज्ञान विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

साइंस की तरक़्क़ी पर दुआ
(नज़्म)

फिदा-उल-मुस्तफा फिदवी

उसके पेश-ए-नज़र है
ये देरीना मक़सद
अनासिर के सर बस्ता असरार
इंसान पर मुनकशिफ हों
नुसख़ा-ए-कीमिया
ऐसा ईजाद करने की धुन है उसे
जिस से
ज़र्रे को सहरा में
क़तरे को दरया में
तब्दील करना हो मुमकिन
या कर सके क़ैद
दरया की ताक़त क़तरे में
सहरा की वुस्अत को ज़र्रे में
और इस तरह
कुव्वतें ख़ैर-ओ-शर की तमाम
उसके ज़ेर-ए-नगीं हों
खुदाया
उसे अपने मक़सद में हो कामयाबी अता
मगर काविशें उसकी इंसानियत की बक़ा के लिए सर्फ़ हों
कोशिशें उसकी काम आऐं
दुनिया की तामीर में।

विभागाध्यक्ष, उर्दू एवं फारसी
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

शब्दार्थ :
देरीना-प्राचीन, अनासिर-अवयव, सरबस्ता असरार-भेद, राज़, मुनकशिफ़-प्रकट होना, खुलना, नुसख़ा-ए-कीमिया-रासायनिक सूत्र, ज़ेर-ए-नगीं-क़ब्जे में, बक़ा-काईम रहना, बाक़ी रहना

दानवीर हे! गौरजी

संतोष सोहगौरा

डॉ. हरीसिंह गौर की, ध्वजा गगन फहराय।
आती-जाती पीढ़ियाँ, देखि-देखि हर्षाय।।

गौर-गाथा गौर की, ज्यों वसंती वायु।
बल बुद्धि विद्या बाँटती, देती है दीर्घायु।।

ऐसे सपूत सागर तुम्हें, कोटि-कोटि परनाम।
सागर शैक्षिक अनुदान है, जगती में अभिराम।।

विश्वविद्यालय गौर का, विद्या-पारिधि तुल्य।
बाँट रहा सौगात जग, मणियों सम बहुतुल्य।।

बौद्धिकता के रत्न की, किरणें फैली विश्व।
गौरज्ञान की छाप से, अभिसिंचित यह सत्व।।

सिद्धि सफलता ज्ञान अस, शिक्षा था आदर्श।
डॉ. हरीसिंह गौर ने, दिखा दिया निष्कर्ष।।

विधिवेत्ता थे धर्मगुरु, साहित्य स्रष्टा रूप।
विश्वविद्यालय गौर का, सबका यही स्वरूप।।

दानवीर हे! गौरजी, अमर आपका नाम।
विश्वविद्यालय आपका, लेता प्रतिक्षण नाम।।

त्याग तपस्या गौर की, जैसे वे साकार।
विश्वविद्यालय हरीसिंह, है महान आकार।।

हिन्दू लॉ श्री गौर का, है प्रकाश स्तम्भ।
मिली मान्यता है उसे, जैसे वह आरम्भ।।

'स्प्रिट ऑफ बुद्धिज्म' पर, तर्क-वितर्क लखात।
लिखित ग्रन्थ यह गौर का, हुआ विश्व विख्यात।।

निराकार मन में रहा, शिक्षा का अनुराग।
सागर में वह प्रकट हो, शोभित सिर ज्यों पाग।।

पीढ़ी दर पीढ़ी को, दिया है अमूल्य दान।
आपकी धरोहर का जग में होता रहे मान।।

चले गौर गौरव की राह में सुजान।
स्वर्णांकित अक्षर का, ऐसा इतिहास आन।।

आयेंगी सदियाँ सब करें आपका गान।
गौर आप धन्य है, आपका कृतित्व महान।।

उप कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

''हिन्दी की प्रगति से देश की सभी भाषाओं की प्रगति होगी।'' - डॉ. ज़ाकिर हुसैन

पहचाने हुए अजनबी का प्यार

राजेन्द्र यादव

जो मुझसे दूर रहता है,
वही मुझको पास बुलाता है।
मैं कितना प्यार करती हूँ,
वो हर दिन आजमाता है।
वो जी सकता है मेरे बिन,
यह बात एकदम झूठी है।
वो मुझको भूल जायेगा,
ये कह कर मुस्कराता है।
है उसके आँख में आँसू,
अंगारों में उसके पाँव हैं।
मेरी हर इक आवाज पर,
वह दौड़ा चला आता है।
साँस-साँस है उसकी बावरी,
रोम-रोम मेरा नाम लेता है,
जो मैं पूँछू 'तू मेरा है',
तो अक्सर टाल जाता है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

बंधन

अनुराग श्रीवास्तव

क्यों बांध देना चाहते हैं
अपनी महबूबा को
अनचाहे, अनगिनत बंधनों में।

क्यों काट देना चाहते हैं
उसके लम्बे-उड़ते पंखों को
क्यों उसको कैद कर
बंद कर देना चाहते हैं
दिल के अंधेरे तहखाने में

प्यार को प्यास की आग
तक ले जाने का और क्या अर्थ है
उसकी सीमा तय कर देने के अलावा।

क्या प्रेमिका के माथे को चूम
सदा के लिए बाहों में भर लेना प्यार है?
नहीं...अगर बांधना ही है तो
कैद कर लो उसे आँखों की गहराई में
कि हर जगह दिखाई दे वो...बस वो।

हँसना है उसकी हँसी में
आँसू बहाने हैं उसके गम में और ढूँढो
राह ऐसी जहाँ चल सको दोनों साथ-साथ

आसमान में उड़ने दो उसे भी
मज़ा लूटने दो उसे ज़िन्दगी का
जीने दो उसे प्रकृति की हलचलों के साथ
उसे भी महसूसने दो
प्रकृति के सुनहरे मिलन के क्षणों को।
यह तो आप भी जानते हैं न
जितना डालेंगे उसे बंधन में
उतना ही मुक्त होना चाहेगी वह आपसे।

देख लीजिए प्रेयसी को दूर से
महसूस कीजिए उसे दिल के करीब से
सुनिए तो क्या कहती है वह
कितना देखती है, पाती है वह
प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत में आपको।

आज़ाद कर दो अपने अन्दर की
सूरज की गरमी को और महसूस करो
उसकी किरणों की शीतलता को।

उसे भी मौका दो खुले गगन का
देखने दो उसे मिलन धरती और आसमान का
सुनने दो उसे प्रकृति का गुँजन
बहने दो उसे नदी की तरह
ताकि लौट सके वह अनन्त सागर के पास।

सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

बोझ के बरक्स

राजकुमार पाल

हर दिन...
अपनी ही लाश को
श्मशान से उखाड़ कर
अपने ही कंधों पर
ढोता हूँ सुबह शाम...।

हर दिन...
अपनी स्मृति खोकर
जीए जा रहा हूँ
कुछ बदहवासी में
बढ़ता जा रहा हूँ
किसी अनचाहे
रास्ते की ओर ...।

हर दिन...
किसी के सामने
हाथ फैलाते फैलाते
तंग आ गया हूँ
लोगों की निगाहों में
बन गया हूँ
मैं पागल अब...।

फिर भी...
जिंदा रहूँगा मैं
और मेरी नाकाम
अंधेरे में रोशनी
की तलाश
रहेगी जारी
पूरे दिन, पूरी रात...।

हर दिन...
उठाता रहूँगा
जिंदगी का बोझ
ढोता रहूँगा
अपनी लाश
अपने ही कंधों पर
उम्र भर...।

सहायक कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

माता-पिता

जमुना प्रसाद सैनी

माता

संवेदन है, भावना है, एहसास है।
जीवन के फूलों में खुशबू का अहसास है।
रोते हुए बच्चों का खुशनुमा पलना है।
मरुस्थल में नदी या मीठा-सा झरना है।
लोरी है, गीत है, प्यारी सी याद है।
पूजा की थाली, मंत्रों का जाप है।
आँखों का सिसकता हुआ किनारा है।
गालों पर पप्पी है, ममता की धारा है।
झुलसते दिनों में कोयल की बोली है।
मेंहदी है, कुमकुम है, सिंदूर है, रोली है।
क़लम है, दवात है, स्याही है।
परमात्मा की स्वयं एक गवाही है।
त्याग है, तपस्या है, सेवा है।
फूँक से ठंडा किया कलेवा है।
अनुष्ठान है, साधना है, जीवन का हवन है।
जिन्दगी के मोहल्लों में आत्मा का भवन है।
चूड़ीवाले हाथों के मजबूत कंधों का नाम है।
काशी है, कावा है, चारों धाम है।
बच्चों की चोट पर सिसकी है।
चूल्हा, धुँआ, रोटी और हाथों का छाला है।
जीवन की कड़वाहट में अमृत का प्याला है।
माँ! पृथ्वी है, जगत है, धात्री है।

पिता

जीवन है, संबल है, शक्ति है।
सृष्टि के निर्माण की अभिव्यक्ति है।
अँगुली पकड़ के बच्चों का सहारा है।
कभी कुछ मीठा, तो कभी कुछ खारा है।
पालन-पोषण है, परिवार का अनुशासन है।
भय से चलने वाला प्रेम का प्रशासन है।
रोटी है, कपड़ा है, मकान है।
छोटे से परिन्दे का बड़ा आसमान है।
अप्रदर्शित अनंत प्यार है।
बच्चों का इन्तजार है।
पिता से ही, बच्चों के ढेर सारे सपने हैं।
पिता है तो बाजार के सब खिलौने अपने हैं।
परिवार में प्रतिपल राग है।
माँ की बिंदी और सुहाग है।
परमात्मा की जगत के प्रति आसक्ति है।
गृहस्थाश्रम में उच्च स्थिति की भक्ति है।
अपनी इच्छाओं का हनन परिवार की पूर्ति है।
रक्त में दिये हुए संस्कारों की मूर्ति है।
एक जीवन को जीवन का दान है।
दुनिया दिखाने का अहसास है।
सुरक्षा है, अगर सिर पर हाथ है।
पिता से बड़ा अपना नाम करो।
पिता का अपमान नहीं अभिमान करो।

सहायक कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

वादा

रामकृष्ण माणके 'जयंत'

बरसों पीछे किया गया वादा
गाढ़ा हो गया है अब इतना
कि मेरे जीवन का रंग
तय कर रहा है वह आज।

समय की दहलीज पर
ली गयी कसमें और
उसको लेकर गढ़े गए सपने
हुकूमत करने लगे हैं
मेरे आने वाले दिनों के साथ।

मैं कहाँ था दूर और
थी वो कहीं अनजान
पर हमें मिलना था तो
बस कुछ सपनों के लिए
कुछ वादों के लिए
कुछ दूर साथ चलने के लिए।

मगर उसे चुकाना था
पितृ ऋण भी और
उसे जाना था...जाना था
कहीं और, मुझसे दूर
परिवार, समाज और
आत्मसम्मान की खातिर।

अब उसे जीना था
किसी और की खुशी के लिए
ले लिया है मौन का व्रत
उसने मेरे लिए ...
सो मिल रहा है मुझे
अब भी खाली लिफ़ाफ़ा।
मगर मुझे इंतजार है
उस ख़त का... जो
बयाँ करेगा उन वादों को
निभाया नहीं गया जिन्हें
और तोड़ दिया गया
बड़ी बेरहमी से।

होना चाहता हूँ आज़ाद मैं
उन वादों से, कसमों से
जिसे ढो रहा हूँ आज भी
राजा विक्रम की तरह
उस बेजान बेताल को
जिसके पास है तो बस सवाल
सवाल...और सवाल...
नहीं उत्तर दूर-दूर तक।

कार्यालय सहायक
मध्यभारती शोध पत्रिका
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

मोरे गौर साब ने सुन्दर बनवाई जा इनवरसिटी

महेश प्रसाद कुर्मी

प्यारे हरे भरे विरछा, महकें उद्यान।
        जामें अति सुन्दर, विभागें तमाम।।
चौराहे के गौर खों, सबको प्रणाम।।।
        गौर ने छानो-पूरो भारत, विदेशों में भाई।
प्रदूसन गैर इनवरसिटी, पथरिया में बनाई।।
        डॉ. गौर ने, परस्वार्थ करने, छात्र-छात्रा पढ़नें।
अपनी सारी सम्पत्ति दान कर, दानवीर बनें।।
        अरे गौर के न होवे से, दिल में लगी।
हमरी सागर होती, कहीं इन्द्र की पुरी।।
        पुस्तकालय है भैया जा, सबसे बड़ी।
प्रदेश की जा भैया, शान तो खड़ी।।
        ये माटी सागर में जन्में, किया उपकार।
ज्ञान का भण्डार दिया, सबको उपहार।।
        सारी दुनिया से पर्यटक, आये बारम्बार।
आँखें चकित भई शोभा देख जा अपरम्पार।।
        ज्ञानी पुरुषों में इनकी है, गणना प्रधान।
जाहर हो गयो, सागर नगरी को नाम।।
        सबई सागर वासियों के, हृदय में वास।

शिक्षा के क्षेत्र में बनाया है इतिहास।।

बुन्देलखण्ड के जन जन का था, आहवान।

बनाने केन्द्रीय विश्वविद्यालय, का अनुष्ठान।।

जामें है, सबई प्रदेश वासियों, का योगदान।।।

करी खूबई पढ़ाई पास करे इन्तहान।

जामें बने भैया, सर-हरीसिंह महान्।।

ये पिता तुल्य मेरे अन्न दाता।

सबकों सद्बुद्धि दे हमरे विधाता।।

ये सागर के चमकीले हीरे-मोती।

हम तो भैया ठहरे लालटेन जोती।।

धन्य-धन्य-धन्य गौर साहब जू महान्।

आपके विद्या मंदिर का जगखों ऐसान।।

डॉ. गौर साहब को भारत रत्न का सम्मान।

ऐसी जल्दी कोशिश करें मिलके तमाम।।

प्रयोगशाला परिचर, भैषजिक विज्ञान विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

तुम्हारा होना...

विवेक विसारिया

तुम्हारा होना
मेरे जीवन में
ठीक वैसे है
जैसे ऑफिस से लौटने पर
गर्म चाय की प्याली
बीमारी में ध्यान रखते हाथों का
माथे के उस पार तक फैलाव
और खुशी के पलों में
क्षितिज तक फैले ओंठ
और सूरज सा गमकता चेहरा
या अनन्त आकाश
धरती का विस्तार
ब्रह्माण्ड की अनन्तता
पानी का बहाव
नदी की धार
झरने का संगीत
बिजली की चमक

मेरे जीवन में
होना तुम्हारा
ठीक वैसे जैसे कि
यदि तुम न हो तो
मैं रह ही कहाँ जाता हूँ
या रुक जाता है मेरा होना

फिर न धरती
होती है धरती
गगन नहीं बचता
गगन
मेरे लिये

पर आज
सब कुछ है
सच या झूठ
पर तुमने छोड़ दिया है
मेरा साथ
फिर भी
मेरा जीवन है
मेरे जीवन में तुम हो...

सहायक कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

स्कूटर... गोलगप्पे और वो लहराता आँचल

आशुतोष

''खामोश आँखों में बोलती आँखों के लिए एक सपना पलता था।''

प्रताप अपने कमरे में बैठा उधर जिस तरफ दीवार थी खामोश आँखों से देख रहा था। उसकी पत्नी नयना ने उसे यूँ गुमसुम बैठा देख कर पूछा ''क्या बात है क्या सोच रहे हो?''

''नहीं... कुछ नहीं'' प्रताप ने अनमना-सा जबाव दिया।

''कुछ तो है, वरना तुम इतना चुप तो नहीं रहते हो''

''यह समय ही ऐसा है कि सबको चुप कर देता है'', प्रताप से ऐसा सुनते ही नयना को लग गया कि ज़रूर कोई गम्भीर बात है। वह अपना काम रोककर प्रताप के पास आ गयी ''अरे क्या हुआ? कुछ बताओगे कि बस यूँ ही...।''

नयना की बात काटते हुए प्रताप ने कहा ''बताना कुछ खास नहीं है, बस यही सोच रहा हूँ कि बाबूजी से पैसे के लिए कैसे कहूँ?''

''कैसे कहूँ ?.. मतलब'' नयना ने आश्चर्य जताया।

गम्भीर और उदास स्वर में प्रताप ने कहा- ''साक्षात्कार देने जाने के लिए कुछ रुपये चाहिए, मगर मैं जानता हूँ कि बाबूजी के पास कुछ नहीं हैं।''

नयना ने कुछ सोचते हुए कहा ''फिर भी कह कर देखो... बाबूजी कुछ न कुछ इन्तजाम करेंगे।''

''इन्तजाम की एक हद होती है नयना, बाबूजी कहाँ से लायेंगे, व्यापारी से कुछ लिया था, उसका हिसाब अभी नहीं हुआ है। नई फसल होगी तभी कुछ नया लेन-देन होगा, उससे पहले व्यापारी से भी रुपए माँगना बेकार है।'' यह कहते हुए प्रताप का गला भर आया।

नयना ने उसे समझाते हुए कहा ''अरे! इतनी सी बात पर उदास हैं, आप यह सोचना-वोचना छोड़िये, रुपये का इन्तजाम मैं कर दूँगी।

प्रताप ने आश्चर्य से पूछा ''तुम कहाँ से करोगी?''

नयना ने कुछ लापरवाही से कहा ''ये मेरी चूड़ियाँ ले लो, वैसे भी ये मेरे लिए बेकार ही हैं।''

प्रताप ने मना किया ''नहीं, मैं नहीं ले सकता।''

नयना ने मुस्कराते हुए कहा ''मेरी बात तो सुनिए... इन्हें मैं ऐसे ही नहीं दे रही हूँ, मुझे तो इसकी जगह आपसे कंगन लेना है, जब आप नौकरी करने लगोगे तब... तब मैं अपने पसंद का कंगन आपसे माँग लूँगी, पर अभी आप मेरी यह बात मान लीजिए।''

यह कहते हुए नयना ने अपनी चूड़ियाँ उतार कर प्रताप की गोद में रखीं और बाल ठीक करने के बहाने आँखों के कोर पोंछ आयी। प्रताप भावुक हो गया। उसे लग रहा था कि यह कोई पुरानी हिन्दी फिल्म का दृश्य है जो आज उसके जीवन में उतर आया है। उसे उदासी में घिरते देख नयना ने बात बदली ''अच्छा यह सब छोड़ो, पहले यह बताओ कि नौकरी के बाद मेरे लिए क्या करोगे?''

प्रताप हल्का-सा मुस्कराते हुए बोला - ''सब कुछ तो तुम्हारे लिए, अम्मा-बाबूजी के लिए और साँची बिटिया के लिए ही तो करना है।''

''पता है, पर ये बताओ कि मेरे लिए क्या करोगे?'' नयना ने इतराते हुए पूछा।

प्रताप ने थोड़ा सकुचाते हुए कहा ''जानती हो नयना, मेरा एक सपना है कि किसी शहर में, किसी एक शाम में, मैं तुम्हें स्कूटर पर बिठाकर गोलगप्पे खिलाने ले जाऊँ और तुम्हारा आँचल उधर दूर तक हवा में लहराता रहे।'' यह कह कर प्रताप एकदम से चुप हो गया। जैसे उसी सपने में खो गया हो।

नयना ने टोका ''कहाँ खो गए?''

''नहीं... कहीं, कुछ नहीं'' प्रताप थोड़ा झेंप गया।

नयना ने मुस्काते हुए कहा ''कुछ तो है''

''आओ बताएं क्या है?'' प्रताप ने नयना को पकड़ने की कोशिश की पर नयना मुस्कराते हुए भाग गयी। प्रताप ने उसे रोका। वह दरवाजे पर खड़ी मुस्कराती रही ''तैयार नहीं होना है क्या?'' प्रताप कुछ करता तब तक उसकी माँ कमरे में आयी। प्रताप के हाथ में एक पुड़िया रखते हुए बोली ''बेटा, यह भभूत रख लो, स्वामी जी ने दिया है।''

प्रताप ने प्रश्न किया ''यह भभूत क्यों?''

''बेटा, हम लोग तेरे लिए इससे ज्यादा कुछ नहीं कर सकते''

''पर इससे होगा क्या?'' प्रताप थोड़ा झल्ला गया।

माँ उससे क्या कहतीं? पर जितना जानती थीं वही बेटे को बता रही थीं ''बेटा, मन में सरधा हो तो क्या नहीं हो सकता, और इ स्वामी जी बड़े पहुँचे हुए हैं, इनके पास बड़े-बड़े हाकिम-हुक्काम बैठे रहते हैं।''

''अरे माँ! मैं तुमको कैसे समझाऊँ'' प्रताप अब नाराज हो रहा था।

माँ उदास स्वर में बोली ''हम सब समझते हैं बेटा सब समझते हैं, परधान जी बता रहे थे कि उनके साढ़ू का लड़का भी इम्तहान देने जा रहा है, मंत्रीजी से उसकी बात हो गई है, उनके यहाँ तो मिठाई भी बंट गयी है,... पर बेटा तुम्हारे माँ-बाप की हैसियत मंत्री से बात करने के लायक नहीं है,... हम जिस लायक हैं वही कर रहे हैं'' यह कहकर प्रताप की माँ भभूत बेटे के हाथ में रख बाहर चली गयी।

प्रताप हाथ में पड़े भभूत को देख रहा था। वह यह नहीं समझ पा रहा था कि इतना पढ़ने-लिखने के बाद भी उसके सपने इस भभूत से कैसे पूरे होंगे। फिर कुछ सोच कर भभूत अपने पर्स में रख लिया। सामान बाँधा और भारी मन से नयना से विदा लिया। विदाई की इस घड़ी में प्रताप भावुक हो गया। न चाहते हुए भी जैसे आँखे छलक आना चाहती थीं कि नयना ने याद दिलाया ''वो स्कूटर''।

तो प्रताप ने भी याद दिलया ''वो गोलगप्पे''।

फिर तो दोनों को एक साथ याद आया ''वो लहराता आँचल''।

प्रताप के होठों पर हँसी की एक छोटी सी नाव तैर गयी।

प्रताप ने माँ से विदा ली। बाहर आया। बाबूजी खाट पर बैठकर उधर जिधर रात में तारे होते हैं, एकटक निहार रहे थे। प्रताप ने पिता के पैर छुये।

''जा रहे हो बेटा?'' बाबूजी की आवाज थरथरा रही थी।

''जाओ..., मैं सूखे हुए पेड़ की तरह अपने दिन गिन रहा हूँ... अब और इन्तजार नहीं हो पायेगा,... अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ बेटा... अपने पैरों पर खड़े हो जाओ।''

प्रताप की माँ ने अपने ढंग से हस्तक्षेप किया ''आप भी न प्रताप के बाबूजी, समय-कुसमय कुछ नहीं देखते, अब बेटा जा रहा है तो यह नहीं कि राजी-खुशी विदा करें, तो लेकर बैठ गए अपना पुराण।''

प्रताप के पिता ने पत्नी को झिड़का ''तुम चुप रहो जी,... मैं जो कुछ कह रहा हूँ तुम सबके भले के लिए कह रहा हूँ... तुम जानती हो कि इसके हर फार्म भरने के साथ घर भर की आँखों में एक सपना भी पलता है, पर इसके 'प्री'... 'मेन' की धूप में हर सपना हमारी आँख में सूखता गया है...।''

प्रताप एकदम से झुँझला गया ''मेरे हाथ में जो कुछ था वह मैंने किया।'' पिता का स्वर तल्ख हो गया ''इसी चक्कर में तो अब हमारे हाथ में कुछ नहीं बचा है।'' प्रताप कुछ और कहता इससे पहले नयना अपनी बच्ची को लिए प्रताप के पास आ गयी। सबकी आँख बचाकर उसने धीरे से प्रताप को उसके सपने की याद जगा दी। प्रताप अब थोड़ा सहज हो गया। नयना के होंठों पर खुशी के छोटे-छोटे पौधे लहलहा उठे, और प्रताप की आँखे आधी-आधी भर आयीं। जैसे नयना के होठों पर उगे हँसी के पौधों को प्रताप की आँखों ने सींचा हो।

माँ, बाबूजी, नयना और बिटिया साँची से विदा लेकर प्रताप घर से निकल पड़ा।

प्रताप के घर छोड़ने और साक्षात्कार का परिणाम आने तक दुनिया में बहुत सारी चीज़ें बदल गयी थीं। उन चीज़ों पर हमेशा बातें होती रहती थीं। उस दिन भी विश्वविद्यालय कैंटीन में चाय की छोटी-बड़ी चुस्कियों में बहसें डूब-उतरा रही थीं। एक दोस्त ने प्रताप से उसके साक्षात्कार के बारे में जानना चाहा। प्रताप ने निर्विकार भाव से कहा ''देखो भाई, अब क्या है कि, यदि आपका होना होगा तो, एक्सपर्ट आपसे आपके पिताजी का नाम पूछेगा, और नहीं होना होगा तो आपसे अपने पिताजी का नाम पूछ लेगा।'' प्रताप के इस जवाब से सभी दोस्त देर तक हँसते रहे। तभी प्रताप के मोबाइल पर 'न्यू मैसेज' का टोन बजा। उसके बाद तीन-चार घटनाएं एक के बाद एक हुई। मैसेज पढ़ना, चेहरे का रंग उड़ना, चक्कर आना और प्रताप का लड़खड़ाना। कैंटीन में मौजूद सारे दोस्त घबरा गए। उनमे से एक ने प्रताप के मोबाइल पर आया हुआ वह संदेश पढ़ा। 'रिजल्ट इज आउट एण्ड यू आर ऑल्सो आउट'। सारे दोस्त हैरान थे। इस बार प्रताप के और विशेषज्ञों ने तो प्रताप को बधाई दे दी थी। फिर इतना बड़ा उलट फेर। सभी प्रताप को समझाना चाह रहे थे, पर किस तरह यह किसी के समझ नहीं आ रहा था।

कैंटीन में काफी देर बैठे रहने के बाद प्रताप अपने कमरे पर वापस आया। बाबूजी की चिट्ठी डाकिया दे गया था। प्रताप चिट्ठी नहीं पढ़ना चाहता था, फिर भी उसने लिफाफा खोला -

''प्रिय बेटा प्रताप

खुश रहो,

यहाँ सभी कुशलपूर्वक हैं। तुम्हारी कुशलता की आस लगी रहती है। तुमने अपने रिजल्ट के बारे में नहीं बताया। कुछ अच्छी खबर देना। घर के पास वाला आम का पेड़ बिकते ही कुछ रूपये भेजूँगा, तब तक किसी तरह काम चलाना। हाँ, एक बात और, तुम्हारी बेटी साँची भी अब अपने पैरों पर खड़ी होने लगी है। अब भगवान मुझे यह दिन कब दिखायेगा, कि मेरा बेटा भी अपने पैरों पर खड़ा हो जाय। लिखा कम है पर तुम समझना ज्यादा बेटा। सब कुछ खत्म होने से पहले एक बार अपने पैरों पर खड़े हो जाओ। इसी आस में...

तुम्हारा बाबू।''

चिठ्ठी पढ़ते ही प्रताप पसीने से नहा गया। पंखा तेज किया। पंखे की हवा में बाबूजी की चिठ्ठी कमरे में इधर-उधर फड़फड़ाते हुए उड़ रही थी। प्रताप को लग रहा था कि वह बाबूजी के सवालों से घिरता जा रहा है। अपना सिर पकड़ कर बिस्तर पर लेट गया। वह जोर-जोर से रोना चाहता था। मगर मकान मालिक का ख्याल कर वह रो भी नहीं पाता। उसे लगता है कि जिंदगी चाहे जैसी हो पर उसमें एक 'रोने' की जगह तो होनी ही चाहिए। फिर कुछ सोचते हुए प्रताप ने अपने पर्स से भभूत की वह पुड़िया निकाली, और जोर से उसे मसला तभी पर्स में रखे नयना की तस्वीर की तरफ उसका ध्यान गया। वही आँखें, उन आँखों में वही सपना...।

दो-तीन दिन तक प्रताप अपने कमरे में यूँ ही पड़ा रहा। यार-दोस्तों के आग्रह पर जिन्दगी फिर शुरू हुई। सबसे पहले वह अपने सर से मिलने गया। इस उम्मीद में कि कहीं कुछ रास्ता बने। कम से कम शहर में रहने खाने भर का इन्तजाम तो करना ही होगा। यही सब सोचते हुए वह अपने सर के घर पहुँचा। सर ने ही दरवाजा खोला ''आओ भाई प्रताप... तुम्हारे रिजल्ट के बारे में पता चला,... अब इसमें कोई क्या कर सकता है..., खैर! यह सब छोड़ो, अब आगे का क्या सोचा है?''

प्रताप को थोड़ी-सी ढाँढस बंधी ''सोचा तो कुछ नहीं सर... पर कहीं कुछ अनुवाद का काम मिल जाता, तो मेरी मुश्किल कुछ आसान हो जाती।'' सर ने पान थूकते हुए कहा ''अनुवाद... जिसे लोग दोयम दर्जे का काम समझ रहे हैं..., कितना कमा लोगे...।'' प्रताप ने आशा भरे स्वर में कहा ''तब आप ही कुछ बताइए सर''। गुरुजी ने कुछ टोहते हुए पूछा ''एक लोकल न्यूज चैनल में समाचार संपादन का काम करोगे?... सोलह सौ रुपया देगा। तुम्हारे जैसे प्रतिभाशाली लड़के के लिए यही काम ठीक रहेगा।''

प्रताप के पास कोई विकल्प नहीं था फिर भी सोलह सौ रुपया उसे बहुत कम लगा। उसने सोचा अभी का काम चले बाद में देखा जायेगा।

गुरुजी ने दूसरा पान लगाया और उसे चबाते हुए कहा ''देखो प्रताप मैं बात साफ कर देना चाहता हूँ... सम्पादक तो तुम ही रहोगे, पर नाम चैनल मालिक का होगा।''

प्रताप को झटका लगा। वह गुरुजी को एकटक देख रहा था। आज उसे गुरुजी का चेहरा ओरंगाउटांग की तरह लग रहा था। प्रताप को ध्यान आया कि यही गुरुजी हैं जो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' पढ़ाते समय भुजा उठाकर ओजमयी भाषा में दुहराते थे 'किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं'। आज इतना घटिया प्रस्ताव देते समय इन्हें कुछ भी याद नहीं है। पर प्रताप को सब याद है। 'किसी से भी न डरना, गुरु से भी नहीं।' वह अचानक उठा और बड़े ही संयत स्वर में बोला ''सर मैं पैसे से तो समझौता कर सकता हूँ, मगर नाम से नहीं।'' अब गुरुजी प्रताप के चेहरे को एकटक देख रहे थे, और वह वापस जा रहा था।

गुरुजी के घर से निकलकर प्रताप यूँ ही टहलता रहा। वह जब भी कमरे से बाहर होता तो उसे हर बार यही लगता था कि उसकी गैरहाजिरी में बाबूजी की कोई न कोई चिट्ठी ज़रूर आयी होगी, और उसमें बाबूजी के वे सवाल भी आये होंगे, जिनका जबाव प्रताप के पास नहीं हैं। इसलिए प्रताप कमरे पर जाने से बच रहा था। यही सब सोचते हुए प्रताप सड़क पर और सवाल उसके दिमाग में चल रहे थे। रात भी चलते हुए बिल्कुल पास आ रही थी। रात लोगों के घरों तक पहुंचे उससे पहले लोग खुद घर पहुँचना चाह रहे थे। इसलिए ये पहुँचना लगभग भागने में बदल गया था। सड़क पर भागते हुए लोगों के दिमाग में तमाम तरह के सवाल चल

रहे थे। भागने की इसी घबरायी हुयी-सी बेला में एक ऑटो वाले के दिमाग में सवालों का एक बवंडर उठा और उसका ऑटो अनियंत्रित होकर प्रताप से टकरा गया। सड़क पर थोड़ा सा गतिरोध आया, लेकिन प्रताप के बेहोश होने से पहले सड़क पर सब कुछ सामान्य हो गया। सड़क के किनारे पड़े प्रताप की आँखों में उसका वही एक मात्र सपना अटका रह गया था। शहर भाग रहा था। सभी यही चाह रहे थे कि रात उनके घर पहुँचे और पत्नियों से दिन की चुगली कर दे, उससे पहले वे पहुँच जायें।

प्रताप को जब होश आया तब उसने खुद को सरकारी अस्पताल में पाया। उसके एक-दो दोस्त आ गए थे। दोस्तों ने बताया कि पुलिस ने उसे यहाँ भर्ती कराया और उसके मोबाइल से नम्बर लेकर उनको सूचित किया। यार-दोस्त प्रताप के घर की स्थिति से वाकिफ थे। फिर भी प्रताप से पूछ लिया ''घर पर बताना होगा?'' प्रताप ने जैसे ही घर का नाम सुना, उसके चेहरे पर दर्द की एक पूरी लहर उठी और बैठ गयी। प्रताप ने घर पर कुछ भी बताने से मना कर दिया। दोस्तों ने प्रताप को भरोसा दिलाया कि वह चिन्ता न करे, वे लोग सब सँभाल लेंगे।

उस रात की दुर्घटना में प्रताप के दाहिने पैर की हड्डी इस कदर टूट गयी थी कि प्रताप को बचाने के लिए पूरा पैर ही काटना पड़ा। प्रताप के दोस्त इसी बात से डर रहे थे कि, प्रताप इस स्थिति का सामना कैसे करेगा। लेकिन प्रताप ने तो जैसे हर स्थिति के लिए खुद को तैयार कर लिया था। पांव के कट जाने पर उसने कोई प्रतिक्रिया नहीं की। दोस्तों की आँखें भर आयीं। प्रताप ने धीरे से कहा ''कोई बात नहीं, सम्पूर्णता ने इस अधूरेपन तक पहुँचाया... अब देखना है कि यह अधूरापन कहाँ तक ले जाता है।''

दोस्त कुछ नहीं बोल सके। कोई कुछ नहीं बोल सका।

अस्पताल में दोस्तों का आना-जाना लगा रहता। सभी प्रताप का मन बहलाने का प्रयास करते। दवाईयों का इन्तजाम दोस्त अपने पास से कर रहे थे। ऐसे ही एक दिन प्रताप ने अखबार में नलकूप विभाग में चपरासी का विज्ञापन छपा देखा। उसने अपने एक दोस्त से वह फार्म लाने को कहा। दोस्त चौंक गया। ''क्या कह रहो? हमारे समय का इतना बड़ा बौद्धिक, अब चपरासी बनेगा?''

प्रताप ने धीरे से कहा ''क्या हुआ? वहाँ भी तो सफाई ही करनी है।''

दोस्त बिफर पड़ा ''फिर भी यार, यह ठीक नहीं है।''

''क्या ठीक है, क्या नहीं, यह वक्त तय कर रहा है न?'' यह कहते हुए प्रताप की आवाज में थोड़ी खीझ आ गयी थी।

''फिर भी यार इस हालत में तुम यह सब कैसे कर पाओगे?'' दोस्त का गला भर आया।

प्रताप ने गम्भीर स्वर में कहा ''सब हो जायेगा... सही कहूँ तो अब खेल में असली मजा आयेगा..., यह सिस्टम पहले से ही विकलांग है,... मैं तो अब विकलांग हुआ हूँ..., अब कोई ओभर क्वालिफिकेशन नहीं 'एभरी थींग इज इक्वल''। प्रताप की आँखों के कोर से पता नहीं कबसे अटकी पड़ी एक बूंद लुढ़की और तकिए में कहीं समा गयी।

प्रताप ने दोस्तों की मदद से नलकूप विभाग का वह फार्म भरा। मेरिट पर आधारित चयन प्रक्रिया में प्रताप का चयन विकलांग कोटे में चपरासी के पद पर हो गया। दोस्तों ने प्रताप को उसके चयन की सूचना दी। प्रताप ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। दोस्त समझ नहीं पा रहे थे कि इस पर खुश हुआ जाय या रोया जाय।

प्रताप ने धीरे से सिरहाने रखा कागज कलम निकाला और पत्र लिखा -

''आदरणीय बाबूजी,

प्रणाम

आपने लिखा था कि कोई अच्छी खबर देना, इसलिए पत्र लिखने में देरी हो गयी। आज अपार हर्ष के साथ आपको सूचित कर रहा हूँ कि अब आपका बेटा अपने पैरों पर खड़ा हो गया है। माँ को मेरा प्रणाम कहियेगा। साँची को मेरा आशीर्वाद।

और हाँ नयना को कहियेगा कि वो स्कूटर वाली बात रहने दे, वह समझ जायेगी।

आपका बेटा

प्रताप''

पत्र पूरा कर प्रताप ने अपना सिर दीवार पर टिका लिया। वह खामोश आँखों से देख रहा था कि पत्र पाते ही बाबूजी खुशी से झूमने लगे हैं। वे बावले से चिल्ला रहें हैं कि देखो-देखो मेरा बेटा अपने पैरों पर खड़ा हो गया है। खिड़की पर प्रताप का पत्र लिए नयना चुपचाप खड़ी है। वो गोलगप्पे वो स्कूटर, और वो लहराता आँचल कहीं अटके रह गए थे।

''इन बोलती आँखों में, अब उन खामोश आँखों के लिए एक बेचैनी पलने लगी थी।''

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

बँटवारा

ललित मोहन

बाबा की आँखे सूजी हैं और मन उदास है। चिन्ता की लकीरें चेहरे पर साफ झलक रही हैं तभी बाबा का बारह साल का नाती छुटकुल दौड़ते हुये आया और बाबा की गोदी में बैठते हुए बोला है -

''बाबा अब हम लोग साथ-साथ नहीं रहेंगे क्या?''

बाबा की आँखे भर आई। उन्होंने छुटकुल को दुलारते हुए कहा, नहीं बेटा ऐसा किसने कहा। छुटकुल ने भोलेपन से जवाब दिया, माँ कह रही थी कि अब हमें अलग घर में रहना पड़ेगा, पर क्यों बाबा यहाँ हम सब कितने मजे से रहते हैं ताऊ जी, पापा-मम्मी और चाचा-चाची सब हमें कितना प्यार करते हैं। फिर हम अलग-अलग क्यों रहेंगे।

बाबा प्यार से छुटकुल की आँखों में देखते हुए कहता है बेटा तुम अभी छोटे हो बड़े हो जाओगे तब समझ में आएगा कि ऐसा क्यों होता है। जा अभी खेलने जा। दस साल पहले स्कूल मास्टरी से रिटायर हो चुके बाबा की पत्नी पहले ही गुजर चुकी थीं तीन बेटे, तीन बहुएँ और सात नाती-नातन के बावजूद बाबा खुद को अकेला महसूस करते हैं। बड़ा बेटा पढ़-लिखकर अधिकारी बन गया और अपनी पढ़ी-लिखी पत्नी के साथ विदेश में नौकरी करने लगा, दो चार साल में कभी-कभी अपने घर आ जाता है।

बाबा का मझला लड़का अपने पुरखों की खेती-बाड़ी देखता है। और छोटा लड़का पास के शहर में नौकरी करने आता जाता है।

बहुत साल बाद तीनों भाई उनकी पत्नियाँ और बच्चे आषाढ़ी पूजन के लिए घर इकट्ठे हुए हैं और सब बाबा के साथ मिलकर बँटवारे की बात कर रहे है। बड़े लड़के ने कहा बाबा अब हम लोग तो यहाँ रहते नहीं इसलिए जमीन बेचकर हमारे हिस्से के पैसे हमें दे दीजिए। तभी बड़ी बहू अपने पति के कान में फुसफुसाती है 'ऐ जी जमीन के साथ मकान का हिस्सा भी तो माँगो।'

बाबा अपने सफेद बालों पर हाथ फेरते हुए लंबी साँस लेते हुए कहते हैं 'बेटा पहले सबकी राय लें फिर सोचेंगे कि क्या करना है।'

तभी मझला लड़का बोलता है 'बाबा जमीन बेंच देंगे तो हम क्या खाएँगे, हम तो खेती-बाड़ी करके ही परिवार चला रहे हैं। नहीं-नहीं हम जमीन बेचने के पक्ष में नहीं हैं।'

बाबा के कहा 'अरे भई जरा छोटे बेटा-बहू से भी तो पूँछ लो... 'हाँ बोल बेटा तेरा क्या कहना है?'

लड़के ने कहा 'बाबा बँटवारे से कोई फायदा नहीं है। मैं तो खेत जाता नहीं हूँ पास के शहर में नौकरी करने रोज आना-जाना पड़ता है। सो आप लोग जो ठीक समझें करें।'

छोटी बहू यह सुनकर तुनक पड़ी और बोली 'अरे वाह जी... बड़े जेठ-जिठानी अपना हिस्सा माँग रहे हैं तो हमें भी अपना हिस्सा मिलना चाहिये... नहीं-नहीं बड़े जेठ जी सालों बाद आए हैं तो बँटवारा हो जाना चाहिए।'

बाबा ने कहा अच्छा बताओ बँटवारा कैसे करें इस पुराने घर में तीन कमरे नीचे और तीन कमरे ऊपर बने हैं। और खेती तो मात्र ढाई एकड़ की है। तुम लोग आपस में सोच विचार करके शाम तक बताओ।

सूरज अस्ताचल की ओर जा रहा था, चिड़ियाँ चहक रहीं थीं, तोतों के झुंड भी वापस अपने घरौंदो की ओर लौट रहे थे यह सब अपने आँगन की खटिया में बैठे बाबा देख कर न जाने किस चिन्ता में खोए हुए थे तभी तीनों बेटे और बहुओं ने आकर बाबा का चिन्तन भंग कर दिया।

अरे आओ मैं तुम सबके बारे में ही सोच रहा था हाँ बेटा बोलो क्या सोचा सबने। चलो पहले बहुएँ बताओ। बड़ी बहू ने बिना देर किए तपाक से कहा हम तो विदेश में रहते हैं सो हमारा हिस्सा हमें दे दीजिये। बाबा आजकल जमीनों के दाम तेजी से बढ़ गए है सो अपना मकान जमीन बेचकर जो भी पैसा आए उसे तीन हिस्सों में बाँट दीजिए। मझली बहू ने बीच में टोकते हुए कहा नहीं जीजी मकान में तो हम लोग रह रहे हैं। हाँ मकान और खेत के तीन हिस्सा बाँट कर दें फिर जिसको जो करना हो सो करता रहे।

अरे छोटी बहू तुम भी तो कुछ बोलो बाबा ने उसकी ओर देखते हुए कहा उसने आँखें नचाते हुए कहा हमें मकान दे दो और खेती की ढाई एकड़ जमीन दोनों जेठ जी को आधी-आधी बाँट दो।

बाबा ने अपना सिर पकड़कर कहा अरे बाप रे तुम तीनों की अलग-अलग बातें हैं। सुनो हिस्सा तीन नहीं, पाँच होंगे। तीन तुम्हारे और दो तुम्हारी बहनों के। लड़कियों का भी पिता की सम्पत्ति पर बराबर का अधिकार है, समझे।

ऐसा सुनते ही तीनों बहू-बेटे सन्न रह गए तभी बड़े बेटे ने कहा बाबा लड़कियों को हिस्सा देने की क्या ज़रूरत, उनका हिस्सा तो उनकी ससुराल से मिलेगा ही।

बाबा ने तिरछी नज़र से बड़े बेटे को देखा और व्यंग्यात्मक मुस्कान के साथ कहा-बेटा मैं सब समझता हूँ। तुम्हारी दोनों बहनें अपनी ससुराल में सुखी हैं, वे तुम्हारी तरह लालची नहीं उन्होंने पहले ही लिखकर दे दिया है कि इस सम्पत्ति से उन्हें कोई हिस्सा नहीं चाहिये। ऐसा सुनते ही तीनों बहू-बेटों ने राहत की साँस ली। तभी मझले लड़के ने विदेश में रहने वाले भाई से कहा 'भैया आप तो विदेश चले गए... बड़ी नौकरी है आप भी अपना हिस्सा छोड़ सकते हैं।'

इतना सुनते ही बड़ी बहू तुनक कर बोली 'अरे वा जी वा ये क्या बात हुई हम नहीं रहें पर हम अपना हिस्सा नहीं छोड़ेंगे। हमारा भी तो हक बनता है।'

बाबा ने समझाते हुए कहा 'ठीक है हम सब समझ रहे हैं पहले ये बताओ कि मुझे कौन अपने साथ में रखेगा, बुढ़ापे में मेरी सेवा कौन करेगा।' यह सुनते ही सन्नाटा छा गया बाबा ने बड़े बेटे को देखकर कहा 'हाँ बेटा तेरे साथ विदेश चलूँ क्या?' बड़ी बहू ने तुरंत टोका, 'अरे बाबा आप हमारे साथ क्या करेंगे। विदेश का रहन-सहन, खान-पान बिल्कुल अलग है। बच्चे को भी बहुत सफाई पसंद हैं, फिर आपको तो पुराने विचारों से रहना है। वही धोती, कुर्ता, बन्डी, मौसम के हिसाब से खानपान। विदेश में तो फास्ट फूड चलता है जो आपको पसंद नहीं है।'

बाबा ने मुस्कराया और मझले बेटे को देखते हुए पूछा 'हाँ मझले बोल तू रखेगा मेरा ख्याल?'

मझले बेटे ने लम्बी साँस लेकर कहा 'बाबा, आपने मुझे जनम दिया है, शिक्षा दी है, संस्कार दिए हैं, फिर मैं आपसे अलग कैसे रह सकता हूँ। अभी भी तो आप मेरे साथ ही रहते हैं मेरा बेटा छुटकुल तो आपके बिना रह ही नहीं सकता। बाबा बँटवारा जो चाहे सो करें पर आपकी सेवा मैं मरते दम तक करूँगा।' ऐसा कहते हुए मझले लड़के का गला भर आया, आँखे डबडबा गईं। बाबा भी भावुक हो गए उन्होंने मझले बेटे को गले लगाकर कहा 'शाबाश बेटा! आज तूने मेरी शिक्षा का कर्ज़ अदा कर दिया। जुग-जुग जियो बेटा, शाबाश।'

बड़े और छोटे बेटे और उनकी बहुएँ यह दृश्य देखकर ईर्ष्या से भर गए तभी बाबा ने छोटे बेटे से पूछा।

'हाँ बेटा छोटे तेरे क्या ख्याल है। छोटे बेटे ने सिर नीचा करके कहा बाबा मैं तो नौकरी वाला हूँ आज यहाँ कल वहाँ सो आपको दिक्कत तो होगी तीन बच्चों के साथ रहने में।' तभी छोटी बहू ने कान में फुसफुसाया - 'ऐजी सीदे-सीदे कह दो कि हमारे साथ बाबा नहीं रह सकते कौन करेगा उनकी देखभाल।' बाबा ने छोटे बेटे और बहू की ओर देखकर कहा 'ठीक है, ठीक है, हम सब समझ गए कुल मिलाकर छुटकुल के पापा मझले बेटा और मझली बहू हमें साथ रखने को तैयार हैं।'

'अब तुम सब ध्यान से सुनो हमारा फैसला' बाबा ने जोर देकर कहा, सब चुपचाप बाबा की ओर टकटकी लगाए देखने लगे। बाबा ने कहा 'ये मकान पुरखों का है इसे हम नहीं बेचेंगे हाँ ढाई एकड़ जमीन में से डेढ़ एकड़ जमीन बेचेंगे जो पैसा आयेगा उसका आधा बड़े बेटे को और आधा छोटे बेटे को बाँटेंगे', फौरन विदेश वाली बड़ी बहू बोली 'अरे बाबा मकान और एक एकड़ खेती की जमीन का क्या होगा?'

बाबा ने रौबदार तरीके से कहा 'सुनो बड़ी बहू इस मकान में मझले बेटे का परिवार मेरे साथ रहेगा और एक एकड़ में मझले खेती बाड़ी करता रहेगा।' तभी छोटे बेटे ने कहा और बाबा हम कहाँ रहेंगे।

बाबा ने कहा 'जमीन बँटवारे का जो आधा पैसा मिलेगा उससे अपना घर कहीं भी बनवा लेना।'

छोटे ने फिर कहा 'नहीं बाबा आप इस मकान का भी तीन हिस्सों में बँटवारा करो।' तभी बड़े बेटे ने बीच में बात काटते हुए कहा, 'हाँ बाबा छोटे ठीक कह रहा है। मकान के भी तीन हिस्सा-बाँट होना चाहिए। और खेती की जमीन भी बराबर-बराबर तीन हिस्सों में बँटना चाहिये। आप मझले को हमसे ज्यादा जमीन और मकान कैसे दे सकते हैं?'

बाबा ने कहा 'बेटा ये मेरा अधिकार है मझले मेरी सेवा भी तो करता है। रोटी, कपड़ा, मकान, दवाई सबका ध्यान मझले ही तो रखता है। इसलिए मैंने ऐसा किया चलो तुम मुझे अपने साथ रख लो और ले लो ज्यादा हिस्सा।'

बाबा ने गम्भीर होकर कहा 'जो मेरी सेवा देखभाल इस बुढ़ापे में करेगा उसे यह मकान और 1 एकड़ जमीन दी जायेगी, समझे।' बड़े बेटे-बहू और छोटे बेटे-बहू आपस में खुसर-फुसर करने लगे फिर छोटी बहू बोली 'बाबा घर के दो-दो कमरे तो हम तीनों का बाँट सकते हैं।'

बाबा ने कहा, 'नहीं... बिल्कुल नहीं... यदि तुम हमारी सेवा को तैयार हो तो तुम यह मकान ले सकते हो।' बाबा की इस शर्त पर बड़ी और छोटी बहू ने नाक भौंह मटका कर विरोध दिखाया।

बड़ी और छोटी बहू आपस में कहती हैं 'क्यों छोटी बाबा को सबको बराबर का बँटवारा करना चाहिये।' छोटी ने कहा, 'दीदी होना तो ऐसा ही चाहिये पर न जाने इस मझली बहू और मझले जेठ जी ने बाबा पर क्या जादू कर दिया, बाबा तो उन्हीं के मतलब की बात करते हैं। कुछ समझ ही नहीं आ रहा क्या करें?'

तभी बाबा ने कहा, 'अरे भई भोजन-पानी का समय हो रहा है। चलो पहले सब भोजन कर लो बाकी बातें कल करेंगे।'

तीनों लड़का बहू एक-एक कर चले जाते हैं। तभी खिड़की से छुपकर सारी बातें सुन रहा 12 साल का छुटकुल धीरे-धीरे बाबा के पास आता है और गोदी में बैठकर भोलेपन से कहता है 'बाबा ये बँटवारा क्या होता है सब अपना हिस्सा आपसे क्यों मांग रहे हैं?'

बाबा ने भी भोलेपन से जवाब दिया। बेटा छुटकुल पिता की जो भी सम्पत्ति होती है उससे बेटे अपना हिस्सा माँगते हैं।

छुटकुल ने फिर मासूमियत से कहा - 'बाबा मुझे भी मेरा हिस्सा मिलेगा?' बाबा ने कहा-'हाँ बेटा तुझे भी तो हिस्सा मिलेगा बोल तुझे क्या चाहिये?'

छुटकुल और बाबा दोनों ने एक दूसरे की आँखों में प्यार से देखा, तभी छुटकुल ने बड़े प्यार से कहा-'बाबा मुझे मेरे हिस्से में चाहिये मेरे बाबा, और कुछ नहीं बस मेरे प्यारे बाबा।'

विभागाध्यक्ष
संचार एवं पत्रकारिता
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

प्रो. एम.एल. श्रॉफ : भारत में फार्मेसी शिक्षा के जनक

अभय सिंघई

बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि प्रो. महादेव लाल श्रॉफ का नाम पाश्चात्य वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त उन गिने-चुने लोगों में से हैं जिन्होंने गाँधीजी के साथ आज़ादी की लड़ाई लड़ते हुए भारत में फार्मेसी (भेषजी) शिक्षा के पौधे को न केवल रोपा और सींचा बल्कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में एक सघन-छाया वृक्ष बनाने में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। वस्तुतः उन्होंने इक्कीसवीं सदी के सपनों को साकार करने के लिए फार्मेसी शिक्षण के रूप में एक पुख्ता नींव वाली इमारत हमारे लिए विरासत के रूप में छोड़ी है। प्रो. श्रॉफ का जन्म 6 मार्च, 1902 को बिहार के दरभंगा शहर में हुआ। माता-पिता का देहावसान इनके बाल्यकाल में ही हो जाने के कारण लालन-पालन उनके बड़े भाई मुरलीधर श्रॉफ द्वारा किया गया। प्रो. श्रॉफ की हाईस्कूल तथा इंटरमीडिएट शिक्षा भागलपुर में हुई। वर्ष 1920 में आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के इंजीनियरिंग कोर्स में प्रवेश लिया और यहीं से उनके जीवन में संघर्षों का सिलसिला शुरू हुआ। आप पर स्वामी सत्यदेव का बहुत प्रभाव था जो उस समय के प्रख्यात, धार्मिक तथा राजनैतिक सत्पुरुष थे। एक बार स्वामी जी का बनारस आगमन हुआ। उन्होंने छात्र महादेव लाल श्रॉफ के कॉलेज में एक प्रेरक उद्बोधन दिया। कॉलेज के प्राचार्य चार्ल्स ए. किंग को स्वामी जी का यह उद्बोधन पसंद नहीं आया और उन्होंने स्वामी जी के भाषण पर अपमानजनक टिप्पणी कर दी। प्रतिक्रिया स्वरूप कॉलेज के सभी छात्रों ने छात्र श्रॉफ के नेतृत्व में प्राचार्य के खिलाफ हड़ताल कर दी। बाद में प्रशासन के दबाव में अधिसंख्य छात्र तो कक्षाओं में लौट गए परन्तु अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थक छात्र श्रॉफ ने ऐसा करने के बजाय कॉलेज को ही तिलांजलि दे दी।

फिर अल्पवयस्क महादेव श्रॉफ ने वर्ष 1921 में विदेश में विद्योपार्जन करने का उद्देश्य लेकर कुछ धनराशि जुटाई और परिवार को बिना बताये समुद्री मार्ग से हांगकांग पहुँचे। भविष्य के गर्भ में उनके लिए क्या छुपा है इसकी उन्होंने चिंता नहीं की। एक उन्नीस वर्षीय भारतीय लड़के को देने के लिए हांगकांग शहर के पास भी कुछ नहीं था। अब उनके पास मात्र पन्द्रह रुपए बचे थे। प्रयत्न करने के बावजूद भी जब उन्हें कोई नौकरी नहीं मिली तो वे तीन सप्ताह में ही हांगकांग से जापान चले गए। यहाँ भी समय उनके लिए कठिन ही रहा। प्रारंभ में भारतीय

मूल के एक हौजरी व्यवसायी गोकुल दास के यहाँ उन्होंने कैशियर की नौकरी की। फिर कुछ छात्रों को अँग्रेजी भाषा सिखाकर धन जुटाया। इसी बीच "ओसाका विदेशी भाषा अध्ययन शाला" ने उन्हें हिन्दी पढ़ाने का काम दे दिया। इससे भी जब उनका गुजारा नहीं हुआ तो वे एक अँग्रेजी दैनिक 'ओसाका मैन्शी' के संपादकीय कर्मियों के बीच काम करने लगे। इस अँग्रेजी दैनिक में महात्मा गाँधी के जीवन पर एक आलेख लिखकर उन्होंने 200 येन कमाये। जीवन की यह यात्रा शाकाहारी श्रॉफ के लिये बहुत कठिन थी। वे दिन में केवल एक बार भोजन करते तथा महीने में छः उपवास रखते। इस तरह उन्होंने पन्द्रह महीनों में 800 डालर बचाये। इतनी अल्प आर्थिक सुरक्षा के साथ वे शिक्षा प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प लिये जापान से अमेरिका पहुँचे।

वहाँ सन् 1923 में उन्होंने आयोबा यूनिवर्सिटी में बी.एस.सी. केमिकल इंजीनियरिंग में प्रवेश लिया। जब वे दूसरे सेमिस्टर में थे, विभाग के एक कर्मचारी ने उनकी चमड़ी के रंग को लेकर कुछ अपमानजनक शब्द कहे जो वे सहन न कर सके और विरोध जताते हुए उन्होंने आयोबा विश्वविद्यालय को ही अलविदा कह दिया। बाद में अनेक कठिनाईयों को झेलते हुए उन्होंने कोर्नेल यूनिवर्सिटी से सन् 1926 में केमिस्ट्री में बी.ए. आनर्स तथा सन् 1927 में मेसाच्यूट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी (एम.आई.टी.) से केमिस्ट्री एवं माइक्रोबायलॉजी में एम. एससी. की उपाधियाँ प्राप्त कीं।

यद्यपि फार्मेसी विषय की उपाधियाँ उनके पास नहीं थीं। फिर भी अपने आत्मविश्वास तथा दृढ़निश्चय के बल पर नौकरी करते हुए उन्होंने स्वयं को फार्मेसी जैसे विषय में शिक्षित तथा पारंगत कर लिया। प्रो. श्रॉफ ने 'नौकरी के लिए नौकरी' या 'गुजारे के लिए नौकरी' कभी नहीं की। जहाँ उन्हें लगता कि 'अब यहाँ मेरी ज़रूरत नहीं है' वे नौकरी त्याग देते। अमेरिका में कुछ समय काम करके वे सन् 1929 में भारत लौटे। परतन्त्र भारत में सर्वप्रथम बिड़ला की जूट मिल में उन्होंने नौकरी प्रारम्भ की। परन्तु जूट मिल का कार्य आपके स्वभाव तथा रुचियों के अनुरूप न होने के कारण तीन सप्ताह में ही उन्होंने नौकरी से त्याग पत्र दे दिया। राजनैतिक जागरूकता एवं देशभक्ति उनमें प्रारम्भ से ही थी। अतः गाँधीजी के सहयोगी वर्धा के सेठ जमनालाल बजाज के निजी सचिव बनकर वे स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद पड़े। दिसम्बर, 1929 में वह गाँधीजी के वर्धा आश्रम में भी रहे। सेठ जमनालाल बजाज के साथ उन्होंने कई शहरों की यात्राएँ कीं। इसी दौरान बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक पण्डित मदनमोहन मालवीय जी से भी आपकी कई मुलाकातें हुईं। मालवीय जी ने आपकी विद्वता और उत्साह को परख आपसे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में फार्मेसी शिक्षण कार्य प्रारम्भ करने का आग्रह किया। परन्तु इसी बीच अपने पैतृक नगर भागलपुर में नमक आन्दोलन सत्याग्रहियों का नेतृत्व करने के कारण अँग्रेजों द्वारा उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और छः महीने के लिए हजारीबाग जेल भेज दिया।

तदुपरान्त बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में सेवायें देने का जिस समय प्रो. श्रॉफ ने मन बनाया उस समय विश्वविद्यालय की आर्थिक दशा सन्तोषजनक नहीं थी। इस कारण उन्होंने मालवीय जी के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए वहाँ अवैतनिक रूप से शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया। यहाँ वे सर्वप्रथम 'इण्डस्ट्रियल केमिस्ट्री' तथा बाद में 'आर्गेनिक केमिस्ट्री' के असिस्टेण्ट प्रोफेसर नियुक्त हुए। उनकी नियुक्ति का मालवीय जी एवं प्रो. जोशी जी के अलावा किसी ने भी स्वागत नहीं किया। मालवीय जी चाहते थे कि वे फार्मास्युटिकल केमिस्ट्री (भैषजिक रसायन) के अध्ययन की पृथक से व्यवस्था करें। इस हेतु प्रो. श्रॉफ द्वारा बनाया गया नया पाठ्यक्रम 26 फरवरी, 1932 की विज्ञान संकाय की बैठक में पारित नहीं हो सका। कारण प्रो. श्रॉफ अपने विवाह के सिलसिले में कोलकाता गए थे एवं बैठक में उपस्थित नहीं हो सके। लिहाजा जुलाई, 1932 में 'फार्मास्युटिकल केमिस्ट्री' विषय को बी.एससी. पाठ्यक्रम के एक हिस्से के रूप में समावेशित किया जा सका। ततपश्चात् वर्ष 1934 में 'फार्मास्युटिकल केमिस्ट्री' द्विवर्षीय एकीकृत उपाधि पाठ्यक्रम शुरू किया गया। और अन्ततः जुलाई, 1937 में "बैचलर ऑफ फार्मेसी" उपाधि पाठ्यक्रम पूर्णरूप से प्रारंभ किया जा सका। भारत में यह अपनी तरह का पहला पाठ्यक्रम था। दुरूह परिस्थितियों एवं अल्प साधनों के बावजूद आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में शोधोपाधि (रिसर्च डिग्री) के रूप में एम.फार्म. उपाधि पाठ्यक्रम भी सन् 1940 में प्रारम्भ किया।

प्रो. श्रॉफ हर समय छात्रों को अच्छी पाठ्यपुस्तकें सस्ते मूल्य पर उपलब्ध कराने हेतु प्रयत्नशील रहे। इस हेतु उन्होंने पिन्डार्स लि. नामक प्रकाशन संस्था भी बनायी। इसकी प्रबन्ध संचालिका आपकी धर्मपत्नी श्रीमती प्रभा श्रॉफ थीं। वे यह भी चाहते थे कि भारतीय शिक्षक अच्छी पाठ्यपुस्तकें लिखें। बनारस में रहते हुए उन्होंने अकेले तथा मिलजुल कर छः पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित कीं। बाद के जीवन में भी उन्होंने स्वयं को सदैव अच्छी पुस्तकें लिखने में व्यस्त रखा। फार्मेसी के विभिन्न विषयों में अनेक मानक पुस्तकें लिखकर उन्होंने एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

प्रो. श्रॉफ ने सर्वप्रथम सन् 1935 में एक पंजीकृत संस्था "यूनाइटेड प्रोविन्सेज फार्मास्युटिकल एसोसिएशन" की स्थापना की। आगे चलकर दिसम्बर, 1939 में इसी का नाम बदल कर "इण्डियन फार्मास्युटिकल एसोसिएशन" (आई.पी.ए.) किया गया। "इण्डियन जर्नल ऑफ फार्मेसी" इस एसोसिएशन का मुख पत्र था जिसका प्रकाशन जनवरी, 1939 में प्रारम्भ हुआ तथा इसका सम्पादन प्रो. श्रॉफ ने स्वयं किया। अब यही जर्नल 'इण्डियन जर्नल ऑफ फार्मास्युटिकल साइंसेस' के नाम से प्रकाशित हो रहा है।

प्रो. श्रॉफ ने बड़ी सतर्कता से फार्मेसी के महत्त्व को देश के सर्वोच्च बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों तथा उद्योगपतियों के बीच सम्प्रेषित करने का प्रयास किया। उन्होंने इस हेतु

'आई.पी.ए.' तथा 'आई.जे.पी.' की गतिविधियों में हमेशा केमिस्ट्री, बायोकेमिस्ट्री, फार्मोकोलॉजी, चिकित्सा तथा औषधि निर्माण आदि विषयों के वरिष्ठ विद्वानों को सम्मिलित किया। उनके इस प्रयास से देश के वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास कार्यक्रम से जुड़े विशिष्ट लोगों में फार्मेसी के प्रति जागरूकता फैली। प्रथम अखिल भारतीय फार्मास्युटिकल कांग्रेस जनवरी, 1941 में बनारस में हुई। इस सम्मेलन में श्री बी.वी. पटेल भी शामिल हुए जो हाल ही में लंदन से लौटे थे। यहाँ प्रो. श्रॉफ तथा पटेल पहली बार मिले। प्रो. श्रॉफ ने श्री पटेल को पश्चिम भारत में "इंडियन फार्मास्युटिकल एसोसिऐशन (आईपी.ए.)" की सदस्यता बढ़ाने हेतु प्रोत्साहित किया। श्री पटेल ने यह कार्य बखूबी प्रतिपादित किया।

फरवरी, 1943 में प्रो. श्रॉफ ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय को छोड़ने का निर्णय लिया। अब तक बनारस में फार्मेसी शिक्षण अपनी जड़ें जमा चुका था। साथ ही बनारस देश में औषधि निर्माण क्षेत्र में होने वाली व्यावसायिक गतिविधियों का केन्द्र भी बन चुका था। बनारस छोड़ने के पहले प्रो. श्रॉफ को एक विशेषज्ञ की हैसियत से इतनी मान्यता प्राप्त हो चुकी थी कि वर्ष 1940 में ही वे "ड्रग्स टेक्नीकल एडवायजरी बोर्ड" के सदस्य चयनित हुये। बनारस छोड़ने के बाद प्रो. श्रॉफ ने कोलकाता में बिड़ला ब्रदर्स लिमिटेड में नौकरी की जहाँ से उन्हें बिड़ला कॉलेज का प्राचार्य बनाकर पिलानी (राजस्थान) भेजा गया। पिलानी में उन्होंने सफलतापूर्वक फार्मेसी विभाग की स्थापना की। यहाँ "डिप्लोमा इन फार्मेसी" तथा "बी.फार्म" पाठ्यक्रम में प्रथम प्रवेश सन् 1950 में दिए गए। इसके बाद प्रो. श्रॉफ पुनः कोलकाता आ गए। दरअसल बनारस के बाद कोलकाता शहर ही उनकी गतिविधियों का मुख्य केन्द्र रहा। "इण्डियन फार्मासिस्ट" नाम से जिस शोध पत्रिका का प्रकाशन श्रीमती प्रभा श्रॉफ के सक्रिय सहयोग से सन् 1945 में प्रारंभ किया गया था वह सन् 1956 तक जारी रही। सन् 1946 में वे "बंगाल फार्मास्युटिकल एसोसिएशन" के अध्यक्ष बने। वर्ष 1948 तथा 1949 के लिए वे "इण्डियन फार्मास्युटिकल एसोसिएशन" (आई.पी. ए.) के अध्यक्ष चयनित हुए। परन्तु उनके आई.पी.ए. के अध्यक्ष बनने पर आपत्ति की गई लिहाजा उन्होंने आई.पी.ए. से त्याग पत्र दे दिया। इस भीतर-घात से व्यथित हो सन् 1948 में उन्होंने "इण्डियन फार्मास्युटिकल कांग्रेस एसोसिएशन" (आई.पी.सी.ए.) की स्थापना की। खुशकिस्मती से सन् 1954 में उनका आई.पी.ए. से समझौता हो गया। सम्मेलन आयोजित कराने का कार्य आई.पी.सी.ए. को सौंपा गया तथा अन्य व्यावसायिक गतिविधियाँ आई.पी.ए. के जिम्मे रहीं।

प्रो. श्रॉफ ऊँचे महलों में रहने वाले अकादमिक नहीं थे। "कम्पाउंडर्स" जिन्हें अक्सर निम्न स्तरीय समझा जाता है, उनके बीच सदा वे उठते-बैठते तथा घुलते-मिलते थे। उनकी दशा तथा दिशा सुधारने के लिए भी वे हमेशा तत्पर रहा करते थे। इसी उद्देश्य को लेकर उन्होंने सन् 1939 में "अखिल भारतीय कम्पाउंडर्स सम्मेलन" (ए.आई.सी.सी.) की अध्यक्षता भी की। ट्रेड

यूनियन कानून के तहत वे "अखिल भारतीय फार्मासिस्ट्स यूनियन" (ए.आई.पी.यू.) के अध्यक्ष भी रहे। भारतीय फार्मेसी जगत की गतिविधियों के साथ-साथ वे पश्चिमी देशों में होने वाले क्रियाकलापों पर भी पूरी नजर रखते थे। उन्हें फार्मेसी जगत से सम्बन्धित सभी विषयों का गूढ़ ज्ञान था। तृतीय भारतीय फार्मास्युटिकल कांग्रेस (आई.पी.सी. 1943) में दिया गया उनका अध्यक्षीय भाषण एक शोध-प्रबंध से कम नहीं समझा जाता है। वर्ष 1948 में आई.पी.सी.ए. के प्रथम सम्मेलन में वे अध्यक्षीय हैसियत से "जन स्वास्थ्य सेवा में फार्मेसी की भूमिका" विषय पर बोले। तब पश्चिमी देशों ने जनस्वास्थ्य सेवा में फार्मेसी के महत्त्व को समझना शुरू ही किया था। अपने भाषण तथा लेखन में वे अपनी बात को पुख्ता और प्रभावशील ढंग से अभिव्यक्त किया करते थे।

अपने समय के फार्मेसी क्षेत्र के दिग्गजों के बीच प्रो. एम.एल. श्रॉफ का कद काफी ऊँचा था। परन्तु फार्मेसी काउन्सिल आफ इंडिया (पी.सी.आई.) के प्रथम अध्यक्ष पद के नामांकन हेतु उन्होंने स्वयं को अलग रख डॉ. के.सी.के.इ. राजा को नामित कराया। काउन्सिल का दूसरा कार्यकाल भी उन्होंने कर्नल सी.के. लक्ष्मणन् को दिलवाया। वे स्वयं चुनाव द्वारा सन् 1954 में पी.सी.आई. के अध्यक्ष बने तथा इस पद पर सन् 1960 तक रहे। भारतीय भेषजी परिषद (पी.सी.आई.) का प्रथम दशक प्रो. श्रॉफ के कारण काफी गतिशील रहा। "फार्मासिस्ट" बनने के लिए अर्हताओं के न्यूनतम मानक इसी दौरान निर्धारित किए गए। "एज्यूकेशन रेग्युलेशन 1953" के तहत पाठ्यक्रम तथा अन्य सुविधाओं का निर्धारण भी तभी हुआ। इसी दौरान शिक्षण संस्थाओं के निरीक्षण हेतु प्रविधि भी विकसित की गई। "फार्मासिस्ट" के लिए आचार संहिता भी सन् 1956 में पारित हुई। दवाखानों के लिए फार्मेसी की आदर्श योजना भी सन् 1959 में स्वीकृत हुई।

मध्यप्रदेश के सागर विश्वविद्यालय ने भी प्रो. एम.एल. श्रॉफ की स्थापित विद्वता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा का सम्मान करते हुए उन्हें सागर आने का निमंत्रण दिया। वे 2 दिसम्बर, 1959 से 5 नवम्बर, 1960 तक फार्मेसी विभाग के विभागाध्यक्ष रहे। उनके कार्यकाल में यहाँ कई नए पाठ्यक्रमों का सृजन हुआ यथा - "डिप्लोमा इन फार्मेसी", "बी. फार्मा", "बी. फार्म. (आनर्स)" तथा बी.एस.सी. (फार्मोकोलॉजी, माइक्रोबायोलॉजी तथा केमिस्ट्री विषयों के साथ)। परन्तु प्रो. श्रॉफ के सागर छोड़ देने के कारण इन्हें लागू नहीं किया जा सका।

जुलाई, 1964 में जादवपुर विश्वविद्यालय ने भी उन्हें फार्मेसी तथा फार्मास्युटिकल केमिस्ट्री के प्रोफेसर पद पर निमंत्रित किया। साथ ही उन्हें नव-स्थापित फार्मेसी विभाग का अध्यक्ष भी नियुक्त किया। यहाँ कर्मठ तथा गतिमान प्रो. श्रॉफ ने एक वर्ष की अल्पावधि में ही भवन निर्माण, शिक्षकों की नियुक्ति, प्रयोगशाला हेतु उपकरणों की खरीद से लेकर बी. फार्मा.

पाठ्यक्रम को व्यवस्थित करने के कार्य सम्पन्न किए। परन्तु परिस्थितियों ने यहाँ भी नवंबर, 1967 में त्याग पत्र देने को विवश किया और जनवरी, 1968 में उन्होंने इस विश्वविद्यालय से भी विदा ले ली।

प्रो. श्रॉफ ने इण्डियन हॉस्पिटल फार्मासिस्ट्स एसोसिएशन के अध्यक्ष के रूप में भी दो कार्यकाल बिताए (1966 तथा 1967) उन्होंने अप्रैल, 1966 में "एसोसिएशन ऑफ फार्मास्युटिकल टीचर्स ऑफ इण्डिया" (ए.पी.टी.आई) का गठन भी किया तथा सन् 1967 के अन्त तक वे इसके अध्यक्ष रहे। इस एसोसिएशन ने "इण्डियन जर्नल ऑफ फार्मास्युटिकल एज्युकेशन" का प्रकाशन प्रारम्भ किया तथा प्रो. श्रॉफ इसके मुख्य सम्पादक रहे। इस तरह हम पाते है कि प्रो. श्रॉफ जो कि अनेक संस्थाओं के जनक एवं दिशा निर्देशक रहे ने लगभग तीन दशकों तक भारत में फार्मेसी शिक्षा के लिए मसीहा की तरह काम किया।

मजबूत कद-काठी के एक जुझारू, स्वाभिमानी तथा गतिशील व्यक्तित्त्व एवं भारतीय फार्मेसी तथा फार्मास्युटिकल शिक्षा जगत के युगपुरुष प्रो. महादेव लाल श्रॉफ का देहावसान 25 अगस्त, 1971 को कोलकाता में हुआ। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती प्रभा श्रॉफ जो उनकी प्रेरणा स्रोत थीं, का निधन 17 जून, 1953 को मात्र 42 वर्ष की आयु में ही हो चुका था। सन् 1932 से 1953 के 21 वर्षीय दाम्पत्य जीवन में उनकी दो पुत्रियाँ (इन्दु, सुधा) तथा एक पुत्र (अरुण) हुए। प्रो. श्रॉफ ने श्रीमती प्रभा के निधन उपरान्त दूसरी शादी नहीं की। 18 वर्ष के वैधव्य में फार्मेसी (भेषजी) ही उनकी एक मात्र सहचरी रही जिसके लिए वे अन्त तक समर्पित रहे। बीसवीं सदी के परतंत्र भारत में गाँधी जी, बजाज तथा पं. मालवीय जी के अनुचर बन आज़ादी की लड़ाई लड़ने के साथ-साथ प्रो. एम.एल. श्रॉफ ने भारतीय फार्मास्युटिकल शिक्षा जगत को जो रचनात्मक मूल्यवान अवदान दिया उससे 21वीं सदी के पश्चिमी देशों सहित भारत में उनकी यश पताका आज भी लहरा रही है। आज भी फार्मेसी शिक्षा एवं उद्योग जगत में संलग्न युवाओं के लिए वे प्रेरणादायी प्रकाश पुंज है।

अधिष्ठाता
यांत्रिकी एवं तकनीकी अध्ययन शाला
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

जानकी वल्लभ शास्त्री : एक साहित्यिक तीर्थ

मृदुला सिन्हा

'तो देख लिया आपने हमारा पागलखाना!' मुजफ्फरपुर (बिहार) स्थित अपने 'निराला निकेतन' आवास पर मेरे द्वारा अपने पाँव छूने के लिए झुकते समय पूछा आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री ने। मात्र एक घण्टे के मिलन की विदा घड़ी थी। मैंने उनके जीवन की समीक्षा उनके ही मुख से कुछ क्षण पूर्व सुनी थी। इसलिए मैंने भी तपाक से कहा-'हाँ, ऐसे लोगों को दुनिया पागल ही कहेगी। लीक से हटकर चलने वाला व्यक्ति सनकी ही कहा जाता है।' सच तो यह है कि जानकी वल्लभ शास्त्री बनने के लिए विशेष साहस, विशेष जीवनदृष्टि और व्यवहार चाहिए। भारतीय जीवन दर्शन का विशेष ज्ञान भी। ज्ञान को व्यवहार में उतारने की हिम्मत भी। साहित्यकार बनना एक बात है और जानकी वल्लभ शास्त्री बनना दूसरी बात है। साहित्य के उद्देश्य को सहजता से जीना असहज बात है। 'आत्मवत सर्वभूतेषु' को कंठाग्र करना आसान बात है, इसे आत्मसात करके व्यवहार में उतारना अत्यन्त कठिन। बहुत दिनों से आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री की विशेषताएँ सुन रखी थीं। कई बार उनसे मिलना भी हुआ था। वे गाय, कुत्तें और बिल्लियाँ पालते थे। अपनी सारी आमदनी उन्हें खिला देते थे। इससे पूर्व उनके आवास 'निराला निकेतन' में एक-दो बार जाना भी हुआ था, परन्तु उनसे अन्तरंग बातें कभी नहीं हुई थी। इस बार मैं उनके पूर्व सहकर्मी, अपने पति रामकृपाल सिन्हा के साथ गई थी। सम्भवतः उन्हें देखते ही शास्त्री जी की आत्मीयता मुखर हुई और उनका अन्तर्मन रिसने लगा। वे अपने बाल्यकाल में गोते लगाने लगे।

बोले-'मेरे सौभाग्य का आरम्भ मेरी तीन वर्ष की आयु से हुआ। मेरी माँ मुझसे छिन गई। मैं बिना माँ का बच्चा, अपने पिता की गोद में आ गया। सुदर्शन व्यक्तित्व के धनी पिताजी ने मेरा मुख देखकर आत्मीयजनों का आग्रह ठुकरा दिया- 'मैं दूसरा विवाह नहीं करूँगा। एक व्यक्ति के जीवन में एक ही बार किसी स्त्री से सम्बन्ध जुड़ना चाहिए।'

- 'वे मुझे पालते रहे। पढ़ाया-लिखाया। आठ वर्ष की उम्र तक मैं गाँव मैगरा (गया जिला बिहार) में रहा। दस वर्ष की उम्र में गया आया। तब तक परीक्षा क्या होती है, नहीं जानता था। प्रथमा की परीक्षा दी। जब मैं लिख रहा था, मेरे हाथ से कागज छीन लिया गया।

मैं रोने लगा। परीक्षा कक्ष में निरीक्षकों के लिए चमत्कार की बात थी। कॉपी में जिन सुन्दर अक्षरों में शुद्ध भाषा और सारगर्भित बातें मैंने लिखी थीं, दस वर्ष की आयु के छात्र के लिए सम्भव नहीं थीं। मुझे छात्रवृत्ति दी गई। मैं परीक्षाओं में कभी दूसरे स्थान पर नहीं आया। बिहार उड़ीसा माध्यमिक बोर्ड की परीक्षाओं में प्राप्त अंकों का रिकार्ड तोड़ कर बनारस गया। वहाँ भी परीक्षाफल का वही अनुपात रहा। उन्हीं दिनों पत्र-पत्रिकाओं में छपता था। मैं मालवीय जी के सानिध्य में रहा। बहुत-कुछ देखा। उस महामना के जीवन-व्यवहार से बहुत कुछ सीखा। मालवीय जी की मृत्यु हो गई, मुझे बहुत सदमा पहुँचा।'

- 'रायगढ़ (मध्य-भारत) के राजा मुखधर पाण्डे थे। वे मुझे रायगढ़ ले गए। अपने विद्यालय में प्रधानाध्यापक बना दिया। छोटी उम्र, बड़ा पद। शनैः-शनैः मेरा आत्मविश्वास जागा। उन दिनों प्रधानाध्यापक का पद बहुत गरिमामय होता था। राजा भी सम्मान करते थे। मेरे धाराप्रवाह हिन्दी और संस्कृत बोलने पर वे अभिभूत हो जाते थे। उन्हें अपने चयन पर परितोष होता था। महाराजाधिराज की तीन रानियाँ थीं। सम्भवतः वे चौथी लाना चाहते थे। अन्दर की बात कोई नहीं जान पाया। गृहकलह का परिणाम उनकी आत्महत्या हुई। मैं बीमार होकर घर आया था। उनकी मृत्यु की खबर सुनकर तो अपना सामान उठाने भी रायगढ़ नहीं गया। लोगों ने कहा- 'आप क्यों रायगढ़ छोड़ रहे हैं?' बाबूजी ने भी उस पद को छोड़ने पर नाराजगी जताई। उन दिनों भारत स्वतंत्र नहीं था, मैं अपने विचारों और व्यवहार से स्वतंत्र होने लगा था। मैने पिताजी से कहा - 'मैं नौकरी ढूँढ़ने जाता हूँ। खाली हाथ लौटकर नहीं आऊँगा।' मुजफ्फरपुर स्टेशन पहुँचा, वहाँ बेंच पर बैठकर रोने लगा। कुछ लोग मेरी लम्बी-चौड़ी काया, दिव्य मुखड़ा और कंधे तक लटके लम्बे घुँघराले बाल देखकर प्रभावित हुए। सामान्य से हटकर तो मैं था ही, वे मुझे मुजफ्फरपुर संस्कृत कालेज ले गए। उस समय के शिक्षा प्रेमी और शहर के रईस उमाशंकर बाबू ने मुझे अपने पास रखा। वे संगीत और साहित्य के प्रेमी थे। मुझे बहुत सम्मान दिया।

- 'उसी बीच मेरी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। मैं उनसे बहुत नहीं मिला था, रूप-सौंदर्य पूछिए मत। अपूर्व सुंदरी थीं। मैं उनसे पति के नाते एक बार मिला था। उन्हें एक पुत्री-रत्न की प्राप्ति हुई थी। स्त्रीत्व का पद मातृत्व में बदल गया था। उनकी मृत्यु पर मुझे दुःख तो हुआ, पर मेरी उस व्यथा को लंबी आयु नहीं मिल पाई क्योंकि हम दोनों की अन्तरंगता नहीं हुई थी-सिर्फ दूरी रहने के कारण। बाबूजी भी गाँव में अकेले हो गए। वे मेरे पास (निराला निकेतन, मुजफ्फरपुर) आ गए। आठ-दस वर्ष मेरे साथ रहे। मैंने दूसरा विवाह किया। पिताजी नाराज नहीं हुए।' शास्त्री जी हमारे बीच बैठी अपनी सहधर्मिणी छाया शास्त्री की ओर देखते हुए बोले।

शास्त्री जैसे पति की सहधर्मिणी बनना भी विशेष साहस का काम है। एक तपश्चर्या ही। तपस्या से अर्जित आभा से उनका मुखारविंद आच्छादित था। शिव-पार्वती की जोड़ी स्मरण हो आई। दूल्हा रूप में शिव के रूप, गुण और कर्म को देखकर माता सुनयना ने कहा था - *वर मिललौ बौराहा हे गौरा, कइसे क दिनमा जतओ हे। अपने शिवजी बसहा पर चढ़तौ, तोरा से डोरी धरौतो हे।'* छाया शास्त्री ने अपने शिव रूप पति को अपने जीवन का साध्य और साधन बना लिया है। उनकी अपनी कोई संतान नहीं है। परन्तु कुत्तों, गायों-बैलों की सेवा में रत उन्हें सम्भवतः इसका अहसास ही नहीं होगा। शास्त्री जी ने फिर कहना प्रारम्भ किया -

'पिताजी ने शहर आकर कहा- 'मैं मोल लिया हुआ दूध नहीं पीऊँगा।' दूसरे ही दिन एक काली गाय खरीदी। नाम रखा कृष्णा। सामने जो गायें, बाछी, बछड़े और सांड देख रहीं हैं, उसी कृष्णा के वंशज हैं, ये सब मेरे परिवारजन हैं। इन गायों का एक बूँद भी दूध कभी बिका नहीं है। गायों के मरने पर उन्हें कहीं नहीं भेजा। एक एकड़ का मेरा अहाता है। इसी में सबकी समाधियाँ बनी हैं। जया, रोली, दिव्या, महिमा, धारा, अनुपमा, उमा सभी स्वर्गवासिनी गायें हैं। उनकी समाधियाँ बनाई हैं। आप इन्हें ज़रूर देखिए।'

वे थोड़ा रुके फिर बोले-'लोगों को मेरी बात पर विश्वास नहीं होगा पर मैं आपको एक सच्ची घटना सुनाता हूँ। मेरी गाय दिव्या का स्वर्गवास हो गया। मैं बहुत व्यथित था। एक रात्रि को वह सशरीर मेरे कमरे में उपस्थित हुई। बहुत देर तक मेरे सामने रही। मुझे भी विश्वास नहीं हो रहा था। मैं उसको देखकर बहुत रोया। मैं अपनी पत्नी को पुकारना चाह रहा था। पुकार नहीं पाया। पत्नी (छाया) एक दरवाजे से आ रही थी, दूसरे दरवाजे से वह छाया (दिव्या की) बाहर निकल गई। मुझे रोमांच हो आया, वैसा कैसे हुआ, पर हुआ। मेरी दिव्या आई। मैं समझ गया। उसकी समाधि नहीं बनाई थी। मैंने उसे आश्वासन दिया-'तुम्हारी समाधि एक सप्ताह में बन जाएगी।' वह चली गई। दरअसल यह सारा घर गौमाता का ही है। अपनी सारी कमाई उन्हें खिला देता हूँ, अपना क्या है? खाली हाथ आया था, खाली हाथ जाऊँगा। कुछ लोग पूछते हैं- 'आपके बाद गायों, कुत्तों और जमीन का क्या होगा?' मैं कहता हूँ- 'मैं क्या जानूँ! मेरे बाद कौन क्या कहेगा, क्या करेगा! मैं नहीं जानता मुझे जो करना है, कर रहा हूँ।' त्रेता युग के पुरुषार्थ राजा राम आत्महत्या करेंगे, कौन जानता था? उनके कारण सीता को आत्महत्या करनी पड़ी। स्वयं उन्होंने भी आत्महत्या ही की।'

उन्होंने आगे कहा-'भूतपूर्व प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर, पृथ्वीराज कपूर और उपराष्ट्रपति भैरोसिंह शेखावत भी उपराष्ट्रपति बनने से पूर्व यहाँ आए थे। उन्होंने पूछा-'आप जानवरों के बीच ही क्यों रहते हैं?' मैंने कहा-'मनुष्यों के बीच रहते-रहते जी ऊब गया है, उन पर विश्वास उठ गया है। इसलिए जानवरों के बीच रहता हूँ।'

दो-तीन छोटे बड़े कुत्तें उनके तख्त पर चढ़-उतर रहे थे। उनके तख्त पर प्लास्टिक के कुछ डिब्बों में भुने हुए मखाने और बिस्कुट थे। वे कुत्तों को दे रहे थे। तख्त के सामने ही प्रांगण में छोटा-सा मंदिर है, मंदिर के सामने अगरबत्तियाँ जल रही थीं। अन्दर उनके पिताजी की मूर्ति स्थापित है। वे प्रतिदिन अपने पिता की मूर्ति की पूजा करते हैं। उन्होंने कहा- 'आप लोग हमारी गायों की समाधियाँ अवश्य देखकर आएँ।'

हम दोनों उनकी सहधर्मिणी छाया शास्त्री के साथ उसी अहाते में बनी समाधियों की ओर गए थे। ऊँची-ऊँची कई समाधियाँ थीं। अगरबत्ती की सुगंध आ रही थी। मैंने पूछा-'इन समाधियों की भी प्रतिदिन पूजा-अर्चना होती है क्या?'

छाया जी ने उँगली से उस स्थान की ओर इशारा किया, जहाँ अगरबत्ती जल रही थी। थोड़ी देर पूर्व एक श्वान का निधन हुआ था। उसे जमीन में डालकर अगरबत्ती जलाई गई थी। दो कतार में जया, रोली, ईशा, वागी, दिव्या, महिमा, धारा, अनुपमा तथा उमा (गायें) की समाधियाँ बनी हैं। भैया चन्द्रशेखर, अक्षय, चंदन, अतिया और मंजरी कुमार (बैल और साँड़) की भी।

इन समाधियों के बीच एक मंदिर है। एक बेल ने सेमल के वृक्ष को चारों ओर से लपेट रखा है। वह पीपल की बेल है। विचित्र दृश्य है। मानो उस प्रांगण में प्रेम प्रसून ही खिलते हैं। गलबहियाँ डाले ही खड़े हैं सब। मनुष्य, पशु-पक्षी और वृक्ष ही क्यों न हों।

नब्बे वर्ष की आयु पार कर चुके शास्त्री जी के घने काले घुँघराले बाल उनसे नाता तोड़ चुके थे। सिर पर थोड़े से बाल यत्र-तत्र छितराए हुए। पाँव में घाव था। वे अपने गालों पर हाथ फेरते हुए पूछते हैं-'क्या आपको मैं शीघ्र मरने वाला दिखता हूँ।' (मृत्यु के तीन वर्ष पूर्व)

मैं तपाक से बोलती हूँ-'नहीं! बिल्कुल नहीं। आपकी स्मरण, वाक, पहचान और विवेचना शक्ति अभी जीवंत है। चेहरे पर लाली है, आँखों में चमक है। अभी दुनिया से विदा होने का समय कहाँ आया है?'

उनके चेहरे की लालिमा गहरा जाती है। जीवन किसे सुखद नहीं लगता! वे अपने को उपेक्षित महसूस करते हैं। पुरस्कार और सम्मानों की कतार में वे नहीं है, पर समाज स्वीकृति तो चाहिए ही। साहित्यकारों की संवेदना चूक रही है। शास्त्री जी की संवेदनाएँ जीवंत थीं। वे 'सर्वे भवंतु सुखिनः' के आदर्श को जी रहे थे जहाँ साहित्यकारों को अपनी लेखनी में डुबोने भर की मानवीय संवेदना नहीं मिलती, शास्त्री जी 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के सिद्धान्त को जीते, संवेदना में ही डुबकी लगाते नज़र आते थे।

उनके जीवन-व्यवहार की कथा सुनने वालों को दन्तकथा ही लगेगी। आने वाला समय तो दूर, आज भी सुनने या पढ़ने पर किसी ऋषि-मुनि का जीवनवृत पढ़ने जैसा ही लगेगा। स्वामी रामकृष्ण परमहंस को मैदान में हरी-हरी घास चरती गाय को देखकर अपनी ही पीठ पर उसके

चरने की अनुभूति हुई थी। वे दर्द से कराह रहे थे। उनके आश्रमवासियों ने उनकी पीठ पर से कपड़ा उठाकर देखा तो वहाँ गाय के खुरों के निशान थे। शास्त्री जी का जीवन-व्यवहार कुछ ऐसा ही है। उनकी साहित्यिक कृतियों में काव्य संग्रह कालकी (1935), रूप-अरूप, गाथा, मेघगीत, उत्पलदल, अवंतिका, राधा (महाकाव्य), एक किरण सौ झाइयाँ, तमसा, पाषाणी प्रमुख हैं। कहानी संग्रहों में कानून, अर्पण तथा नीलकमल और संस्मरण में स्मृति के वातायन प्रसिद्ध है, निबन्ध आलोचना में साहित्य दर्शन, त्रयी, चिन्तनधारा, प्राच्य साहित्य तथा महाकवि निराला। हिन्दी और संस्कृत साहित्य जगत की आभूषण हैं ये रचनाएँ। वे मूलतः छायावादी कवि थे। उन्होंने स्वयं कहा था 'मेरा जीवन ही छायावाद है।'

उन्होंने अपनी रचनाओं में सांस्कृतिक सम्प्रेषण का बराबर ध्यान रखा है। उनके साहित्य की समीक्षा सुधी समीक्षकों ने की है परन्तु मैं तो उनके द्वारा उड़ेली जीवन स्मृतियों में ही ऊब-डूब रही थी।

एक वर्ष पूर्व भी उनसे मिलने गई थी। तब मुझे ऐसा लगा था उन्होंने मुझे पहचाना नहीं। सीधे कहा- 'आप क्यों मिलने आई हैं मुझसे? क्या जरूरत है?' और फिर तो पूछिए मत। बहुत गुस्सा हुए मुझ पर। मैं शांत भाव से सुनती, उन्हें गुनती रही थी। दरअसल उनका गुस्सा मुझ पर नहीं था, समाज पर था। दर्द छिपा था उस गुस्से में मैंने धैर्य पूर्वक सुना था अन्त में उन्होंने मेरे धैर्य की सराहना की थी। कहा - 'आपको धन्यवाद! आप में बहुत सहनशक्ति है। आपने मेरी बकबक को सुना ही नहीं, सहा भी।' मैंने नतमस्तक होकर आशीष माँगा।

इस बार जब मेरे पति ने बार-बार उनके पास चलने के लिए कहा, मैं दुविधा में थी, जाऊँ या नहीं! उनके तख्त तक पहुँची। मेरे पति ने अपना नाम बताया। वे अंदर लेटे थे। उनकी धर्मपत्नी छाया शास्त्री ने आकर कहा-'उनके पाँव में जख्म हो गया है। धूप में लेटे हैं।'

थोड़ी देर बाद लाठी के सहारे बाहर आए। हमें देखते ही प्रसन्न हो गए। सीधे प्रारम्भ हो गए एक साँस में कथा के रूप में अपना जीवन वृतांत और समीक्षा भी सुना गए। फिर बोले-'पता नहीं क्यों, आप लोगों को देखकर आपबीती सुनाने का मन कर रहा है। सबको सुनाने की जरूरत भी नहीं। कोई क्यों सुनना चाहेगा किसी की आपबीती! यह आपबीती तो मेरी है। मेरी अपनी दुनिया की! दरअसल मैंने भी अपने जीवन को छायावाद ही बना रखा है जो आपके सामने है।'

हम धन्य हुए कि उन्होंने हमें सुनने का पात्र तो समझा। शास्त्री जी का श्रोता बनना भी सौभाग्य की बात थी। लगभग आठ दशकों की अवधि में निरंतर साहित्य-साधना में डूबे व्यक्ति का जीवन सागर के समान ही है। उनसे एक घंटे का मिलन साहित्य-सागर में एक डुबकी लगाने जैसा ही था।

पुनश्च 8 फरवरी, 2011 वसंत पंचमी तिथि को मुझे किसी मांगलिक कार्य में भाग लेने मुजफ्फरपुर जाना था। दिल्ली में ही आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री जी की याद आई। वसंत पंचमी के दिन उनके यहाँ निराला जयंती मनाई जाती है। मैं वसंत पंचमी की शाम 'निराला निकेतन', चतुर्भुज स्थान, मुज फ्फरपुर पहुँची। प्रांगण में पहुँचते ही पाँव थाम-थाम कर ही चलना पड़ता था। कहीं से शास्त्री जी के दुलारे (कुत्ता, बिल्ली) प्रगट हो जाएँगे। वैसा ही हुआ। दो तीन नन्हें कुत्ते, बिल्लियाँ मेरे पाँवों से सटे मेरी अगवानी करने लगे। मैं बड़ी मुश्किल से उनके तख्त तक पहुँची उनके पाँव छुए। उन्होंने कहा-'नीचे उतरकर पहले पिता जी को प्रणाम कीजिए।'

मैं तत्परता से नीचे उतरी। सामने छोटे धवल मंदिर में उनके पिता की विशाल काया को छोटी मूर्ति में ढाल कर प्रस्थापित किया हुआ है। मैंने उन्हें प्रणाम किया, चार सीढ़ियाँ ऊपर गई। शास्त्री जी को शाल ओढ़ाया। वे बोले-'कमरे के अंदर मेरी पत्नी छाया शास्त्री हैं। आप उनसे मिल कर आइए।'

मैंने उनकी आज्ञा का पालन किया। छाया शास्त्री बिछावन पर लेटी थीं। लोगों ने बताया वे बहुत अस्वस्थ थीं छाया जी ने मुझे कहा-'शास्त्री जी बहुत बीमार हैं। उन्हें डाक्टर से दिखला दीजिए।'

मैं पुनः शास्त्री जी के पास आई। उन्होंने कहा-'छाया जी बहुत बीमार हैं, उन्हें डाक्टर से दिखला दीजिए।'

मैंने दूसरे दिन बिहार के स्वास्थ्य मंत्री अश्विनी चौबे जी से बात की। तत्काल उन दोनों का इलाज प्रारम्भ हो गया। उन्हें अस्पताल में रखा गया। स्वस्थ होकर वे घर लौटे। 27 मार्च को पुनः मुजफ्फरपुर जाना हुआ। बिहार सरकार में कला और संस्कृति मंत्री सुखदा पांडे जी के साथ मैं निराला निकेतन पहुँची। अपने तख्त पर तन कर बैठे शास्त्री जी मुस्करा रहे थे। डॉ. सुखदा पांडे जी ने कहा-'मैं तो साहित्यिक तीर्थ में आई हूँ। आपका दर्शन करना अपने सौभाग्य की बात है।'

शास्त्री जी दीवार पर टंगी अपनी साठ वर्षीय पुरानी तस्वीर दिखाकर बार-बार कह रहे थे-'इस रूप में निराला जी मुझे यहाँ ले आए थे। अब देखिए, कैसा हो गया।' उनके यहाँ से प्रकाशित 'बेला' पत्रिका पर भी उनकी तस्वीर थी। 'उत्तम पुरुष' (काव्य-संग्रह) हमें भेंट की गई। उस संग्रह पर उनकी वही तस्वीर छपी है। उन्होंने पूछा-'यह किसकी तस्वीर है?' मुझे मालूम था कि वे भूलने की बीमारी से भी ग्रसित थे। मैंने कहा-'इतना सुन्दर छवि वाला उत्तम पुरुष और कौन है यहाँ' उनकी याददाश्त लौट आई थी। वे मुस्कराए। उस समय कहाँ मालूम था कि हमारी अन्तिम भेंट थी। 04 अप्रैल को उनके देह त्यागने की खबर आई।

साहित्य के बागीचे का एक बड़ा वृक्ष धराशायी हो गया। सरकार के द्वारा उन्हें राजकीय सम्मान मिला। उनके पार्थिव शरीर को पंचभूत में विलीन करने के लिए उसी प्रांगण (एक बीघे का साम्राज्य) को चुना गया। अपनी संगी साथियों (कुत्ता, बिल्ली, बैल, साँड) की समाधियों के साथ उनकी भी समाधि बनी है। भारतीय संस्कृति के अनुसार जीवन को ढालने और साहित्य को विषय बनाने वाले 96 वर्षीय शास्त्री जी नहीं रहे। उनकी कृतियाँ अमर रहेंगी। उनके साहित्य का समग्र प्रकाशन अभी शेष है।

अन्त समय में उन्हें इलाज की सुविधा और मरणोपरान्त राजकीय सम्मान देने के उपरान्त भी बिहार सरकार को और भी बहुत कुछ करना है। साहित्यकारों और समाज को सरकार से भी अधिक करना है ताकि शास्त्री जी के तपोमय जीवन के कणों को समेट और सहेज कर समाज की भावी पीढ़ियों के लिए रखा जा सके।

उनकी कविता की पंक्तियाँ हैं-

'दर्द यह चुप लिख रहा मैं,
गर्द में क्या दिख रहा मैं!
यह कसक बन गान तेरे प्राण में लुक-छुप रहेगी?
मैं सुनूँगा ही नहीं फिर, दूर-दुनिया क्या कहेगी।'

पीटी-60/20
डी डी ब्लॉग
कालकाजी
नई दिल्ली-110019

अभावों की खिड़की से झाँकता सुख का सातवाँ आसमाँ

छबिल कुमार मेहेर

''जब भी रचना-प्रक्रिया के बारे में मैं सोचता हूँ तो लगता है कि सोचना चाहिए कि आखिर रचना-प्रक्रिया होती कैसी है? एक तो गद्य के रास्ते में मुझे कविता मिलती है... कविता के रास्ते में गद्य मिलता है और ये शायद मेरा ख्याल है बहुत कम होता है। मुझे लगता है कि गद्य का शायद ऐसा कोई रास्ता मिलता है जिसमें कविता मिलती है और उस गद्य के रास्ते में ऐसे बहुत से ठिकाने होते हैं। कविता करते समय में एकबारगी जैसे हम केवल उसी ठिकाने पर पहुँच जाते हैं। गद्य जो है कविता से होते हुए एक लम्बा रास्ता लगता है। इसमें जगह-जगह कविता के ठिकाने मिलते हों। कविता में यह ठिकाना उस तरह से सिमट जाता है कि जैसे कविता एक पहुँचने के बाद में केवल घर होता है और रास्ते फिर नहीं होते हैं। और गद्य में एक ऐसा घर आप मान लें जिसमें पहुँचने का रास्ता भी होता है घर भी होता है। पहुँचने के रास्ते को आप शायद गद्य मान लें और पहुँचे हुए के घर को आप कविता मान लें। कविता में, ये जो पहुँचने का रास्ता है अपने पहुँचने में समाप्त भी होता चला जाता है। केवल घर रह जाता है।''

विनोद कुमार शुक्ल, बहुवचन-4, पृष्ठ 315

गाँव, प्रकृति और निम्न मध्यवर्गीय लोक जीवन विनोद जी की कथायात्रा के अभिन्न हिस्से रहे हैं, चाहे वो 'पेड़ पर कमरा' कहानी-संग्रह हो, चाहे 'नौकर की कमीज','खिलेगा तो देखेंगे' या 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यास हों। इनके कथा साहित्य में उत्तर आधुनिक जीवन की जटिलता सिरे से ग़ायब है। इसलिए इन पर सहज ही यह आरोप भी लगाया जाता रहा है कि - विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास में अनुभव का दायरा बहुत छोटा है। इसमें घर परिवार, आसपड़ोस और कस्बाई जीवन के अनुभव ही ज्यादा हैं। इसकी लय कस्बाई जीवन की मद्धिम लय है। भारतीय आम आदमी शायद उतना निष्क्रिय नहीं, जितना इनके उपन्यासों में दिखाई पड़ता है।

आरोप निराधार नहीं है। परन्तु जिस नई चेतना व चिंतना को लेकर विनोद जी काव्यात्मक गद्यकथा में उतरते हैं उसे यहाँ नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। विनोद जी ने गाँव को सम्पूर्णता में लेकर कभी कथा कही ही नहीं। उनके सामने एक ऐसा वर्ग खड़ा है, जिसके पास आधुनिक सुखसुविधा और महत्त्वाकांक्षा दोनों गायब हैं और वे देहाती और अभाव ग्रस्त जीवन को ही जीवन की सच्चाई मान बैठे हैं। वे इस बात से परेशान नहीं कि कौन मंत्री बना और कौन राजा। उनके लिए स्कूटर से महत्त्वपूर्ण है साइकिल। टैम्पो से अधिक विश्वसनीय है हाथी। पंचायत-प्रपंच से ज्यादा जरूरी है सरकारी स्कूल की सामान्य पढ़ाई। तीर्थाटन से ज्यादा गुरुत्त्वपूर्ण है प्रकृति से घिरा तालाब। अतः कहना गलत न होगा कि विनोद जी के उपन्यासों के केन्द्र में एक वर्गचरित्र होता है और उसके इर्दगिर्द उसका परिवार और उसके कुछ परिचित, न कि पूरा का पूरा गाँव :-

''अनगिन से निकलकर एक तारा था।
एक तारा अनगिन से बाहर कैसे निकला था?
अनगिन से अलग होकर
अकेला एक
पहला था कुछ देर।''[1]

यही कारण है कि गाँव की राजनीति, रागद्वेष, दल, गुटबंदी आदि उपन्यास के परिदृश्य से बाहर हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि (जैसा कि गोपाल राय कहते हैं) 'विनोद कुमार शुक्ल के 'खिलेगा तो देखेंगे' और 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' के पात्र हमारे परिचित अनुभव जगत के आदमी नहीं हैं। इनका जीवन, इनकी दिनचर्या, इनके आपसी सम्बन्ध पाठक के लिए पहेली ही बने रहते हैं। उपन्यास के किसी भी प्रसंग में संवेदना, सोच या स्थिति विशेष का बोध नहीं होता।'[2] इतने में चुप नहीं रह जाते गोपाल राय जी। आगे वे यहाँ तक कह देते हैं कि 'यदि यह सब प्रतीकात्मक है तो प्रतीक इतने निजी हैं कि उनका अर्थ पाठक तक नहीं पहुँचता। केवल शब्दों के इन्द्रजाल से जादुई प्रभाव पैदा करने की कोशिश की गयी है। उत्तर आधुनिकतावाद से प्रभावित लेखक साहित्य की निरर्थकता को प्रमाणित करने के लिए यह सिद्ध करने पर तुले हुए हैं कि साहित्य शब्दों के खिलवाड़ से अधिक कुछ नहीं है। विनोद कुमार शुक्ल हिन्दी के इन्हीं रचनाकारों में से हैं।'[3] गोपाल राय जैसे जिम्मेदार समीक्षक की इस टिप्पणी को उनकी व्यक्तिगत राय मानकर फिलहाल हाशिए पर रख दिया जाए। फिर भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि विनोद जी न तो उत्तर आधुनिकतावाद से प्रभावित कथाकार हैं और न ही वे शब्दों के इन्द्रजाल से पाठकों को उलझाने के लिए कभी प्रयत्नशील रहे हैं। 'वैसे भी किसी भी लेखक का शब्दों के साथ खेलने का सम्बन्ध तो बनता ही नहीं, जूझने का बनता है।'[4] फिर लेखक के लिए पाठक ही सबकुछ होता है और वही उसको जीवित रखता

है अनन्तकाल तक। जो पाठक ठेठ गाँव से ताल्लुक रखते हैं वे ही इस बात को भलीभाँति समझ सकते हैं और समझ रहे हैं कि विनोद जी के कथा साहित्य के पात्र कितने जीवंत व प्रामाणिक हैं और वे यथार्थ के कितने ठोस धरातल पर खड़े हैं ।

'दीवार में एक खिड़की रहती थी' के केन्द्र में रघुवीर प्रसाद की एक छोटी सी दुनिया है। परिवार में माता-पिता के अलावा पत्नी 'सोनसी' और भाई 'छोटू' हैं। बाहर के लोगों में साधु (और उसका हाथी), बूढ़ी अम्मा, महाविद्यालय के विभागाध्यक्ष और पेड़ पर चढ़े रहने वाला लड़का हैं। इसी छोटी सी दुनिया के एक छोर पर महाविद्यालय है और दूसरे छोर पर एक कमरे वाला किराए का घर। घर को ही केन्द्र में रख लें तो घर का दरवाजा खुलता है तो महाविद्यालय के लिए और घर की खिड़की खुलती है प्रकृति की ओर। जिस प्रकार खिड़की से कूदकर महाविद्यालय नहीं जाया जा सकता उसी प्रकार दरवाजा लाँघकर भरे हुए तालाब, संकरी नदी, फैली हुई चट्टान, हरी पगडण्डी के पास नहीं पहुँचा जा सकता। कहने का मतलब है दरवाजा खुलता है सामाजिक कारणों से और खिड़की खुलती है दिनचर्या व निजता के लिए। निजता में निर्वस्त्र स्नान, दाम्पत्य, प्रेमालाप व अभिसार भी शामिल हैं। घर की उपयोगिता केवल खाने और सोने तक सीमित थी।

लोकोन्मुखता, कलात्मकता, अमूर्तन, शैलीगत विचलन और घटना विहीनता की दृष्टि से अद्‌भुत उपन्यास है 'दीवार में एक खिड़की रहती थी'। कस्बाई जीवन की जनपद स्मृतियाँ और निम्नमध्यवर्गीय परिवार की छोटी-छोटी खुशियाँ पाठक को मोहित करने के लिए काफी हैं। उपन्यास के बारे में रामचन्द्र वर्मा भ्रामक टिप्पणी करते हैं 'यह इस बात की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है कि हम खुले आकाश और प्रकृति के मुक्त सौन्दर्य से कटकर धीरे-धीरे दीवारों से घिरते जा रहे हैं। प्रकृति का सहज सुन्दर संसार अब खिड़की से देखने की चीज़ या संभावना बनकर रह गया है।'[5] इस उपन्यास के बारे इस प्रकार की कोरी 'प्रतीकात्मक' कल्पना हास्यास्पद लगती है। मेरे विचार से यहाँ खिड़की का अगर कोई प्रतीक बनता है तो वो है 'छोटी छोटी चीज़ में बड़ी-बड़ी 'खुशी' की झलक मिल जाना', बस देखने की दृष्टि चाहिए। इससे उपन्यास की कलाचातुर्यगत विशिष्टता, फैंटसी व शैलीगत विचलनता उभर कर सामने आ जाती हैं। और साथ ही साथ पारम्परिक कथा आलोचकों का बौनापन भी स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि विनोद के कथा साहित्य का मूल्यांकन पारम्परिक आलोचनात्मक औजार से नहीं हो सकता। और यहाँ विष्णु खरे जी के कथन को भी आपके समक्ष रख दूँ 'दीवार में खिड़की रहती थी' यह साफ कर देता है कि अब हिन्दी कथा साहित्य का कोई भी मूल्यांकन उन्हें हिसाब में लिए बिना विकलांग तथा अविश्वसनीय रहेगा।'[6]

सच तो यह है कि एक खिड़की ही काफी है प्रकृति की सुंदरता को झाँकने के लिए। निम्न मध्यवर्गीय परिवारों की गरीबी उनके बचेखुचे सुख को हमेशा नहीं छीन सकती, कुछ न कुछ सुख के कण तो उनके हिस्से आ ही जाते हैं। शुक्ल जी के शब्दों में कहें तो 'जिन्दगी का

उनका अपना भी तो सुख होता है। वो भी तो मुस्कराते हैं, प्यार करते हैं।'[7] इस उपन्यास की दूसरी उपलब्धि है रघुवर और सोनसी का दाम्पत्य प्रेम और लगाव। 'यह दाम्पत्य प्रेम जीवन के छोटे-छोटे संदर्भों के बीच विकसित और सघन होता है तथा अन्त तक अपनी ऊष्मा बनाए रखता है।'[8] इस घरेलू प्रेम और सौन्दर्य के रंग में प्रकृति का रंग भी शामिल है। जिसके कारण दीवार पर एक खिड़की नहीं खुलती, हजार खिड़कियाँ स्वतः खुल जाती हैं। एक खिड़की से नीलकण्ठ दिख जाता है, दूसरे से संकरी नदी, तीसरे से फुलचुक्की, चौथे से काँस... कचनार के फूल...लम्बी पूँछवाली बुलबुल...महुआ...पगडण्डी...। रघुवर और सोनसी के रिश्ते ही क्यों, इस उपन्यास के सभी पात्रों के बीच ऐसा मधुर रागात्मक सम्बन्ध है जिसमें दूर दूर तक कोई दिखावा छलावा, तनाव खिंचाव नहीं। महत्त्वपूर्ण बात यह कि सभी को एक दूसरे की अनकही चिंता है, और इसलिए वे एक दूसरे की इच्छा और जरूरत को सहज ही पहचान लेते हैं। जो मंत्रमुग्ध दृष्टि लेकर शुक्ल जी सरल देहाती जीवन की निष्कपटता का तानाबाना बुनते हैं उसमें आधुनिक जीवन की दौड़धूप रागद्वेष की कल्पना तक नहीं की जा सकती। जीवन की छोटी छोटी जरूरतों, घटनाओं को जिस सूक्ष्म दृष्टि और ब्यौरे के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है उसी में शुक्ल जी की पहचान व मौलिकता स्पष्ट हो जाती हैं।

बहरहाल, विनोद जी के उपन्यासों, विशेषतः 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' की भाषा को लेकर जिन आलोचकों का यह कहना है कि यह उपन्यास नहीं, उपन्यास के बहाने शब्दों का मायाजाल है उन्हें इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि विनोद कुमार शुक्ल एक 'कवि' भी हैं जिन्हें गद्य के रास्ते कविता मिलती है और कविता के रास्ते गद्य। और यह कोरा कवि कौतुक नहीं है। गद्य में कविता की धारा बहाना सबके बूते की बात नहीं :-

- ''दृष्टि के जल से बुझकर सूर्य चंद्रमा हो गया था। और अल्पना का बना हुआ कमल पानी में तैर रहा था।''[9]

- ''पेड़ों के हरहराने की आवाज़ में चिड़ियों के चहचहाने की आवाज़ बैठी थी।''[10]

- ''रात के बीतने से जाता हुआ अंधेरा शायद हाथी के आकार में छूट गया था। ज्यों ज्यों सुबह होगी हाथी के आकार का अंधेरा हाथी के आकार की सुबह होकर बाकी सुबह में घुलमिल जाएगी।''[11]

सच तो यह है कि उन्होंने कथा को कविता के शिल्प में ढालकर उपन्यास के पारम्परिक ढाँचे को तोड़ा है। इसी में इनकी सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। उदय प्रकाश, अखिलेश, अलका सरावगी, गीतांजलि श्री, सारा राय आदि कथाकारों ने विनोद जी की कथा परम्परा को आगे बढ़ाया है। समकालीन युवा कथाकारों ने इस अप्रतिम कथाकार से कितनी प्रेरणा ली है, यह कहने की नहीं, समझने की चीज़ है। इस क्रम में हम चन्दन पाण्डेय, कुणाल सिंह, प्रत्यक्षा, वंदना राग, आशुतोष जैसे और भी अनेक नवोदित कथाकारों का नाम जोड़ सकते हैं।

विनोद कुमार शुक्ल भाषा और शिल्प की दृष्टि से निरंतर प्रयोगशील रहे हैं। भाषा के मामले में विनोद जी रचयिता बाद में हैं, पहले वे एक दर्शक की भूमिका अदा करते हैं : 'सीधे सीधे भाषा में मैं सोच नहीं पाता हूँ। जैसे कि हरा पेड़ यह मैं दृश्य में सोचता हूँ, इसे मैं शब्द में सोच नहीं पाता। और अगर कहीं शब्द आते हैं तो दरवाज़ा दृश्य के बाद दरवाजा शब्द आता है और इसी तरह दृश्य का एक सिलसिला चलता है और इसी सिलसिले के साथ साथ मेरा ख्याल है कुछ समानान्तर होता होगा। समानान्तर उस तरह से न भी होता होगा। कुछ गुँथेपन के साथ में - दृश्य के साथ भाषा गुँथकर जैसे चली आती है। मतलब कि एक दृश्य बनता है उस दृश्य का भाषा में कोई वाक्य बनता है तो दृश्य के साथ वह वाक्य जैसे गुँथा हुआ चला आता है और क्योंकि सोच में दृश्य गुँथे हुए आते हैं तो भाषा भी उसके साथ साथ दृश्य में गुँथी हुई आती हो और ऐंठन होता होगा। लेकिन मुझे परिदृश्य में ऐसा लगता नहीं। मुझे लगता है ये प्रक्रिया शायद दूसरे तरीक़े से शुरू हो जाती है- ऐंठन खुलती जाती है और दृश्य बनता है और ऐंठन बनती चली जाती है और पढ़ते समय लगता है कि यह जो ऐंठन बनती चली जाती है यह खुलती है - भाषा की ऐंठन खुलती है और उस को पढ़ने में दृश्य की ऐंठन भी खुलती है।'[12]

यह कहने में कोई गुरेज नहीं कि निम्नमध्यवर्गीय परिवारों के अभावों को ताक में रखते हुए उनके स्वप्निल संसार को लेकर बुना गया कलात्मक-जादुई यथार्थवादी उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक अनुपम उपलब्धि है। अपने अनूठे शिल्प, अनोखी पद्यात्मक गद्यभाषा की मारफत विनोद जी ने हिन्दी उपन्यास लेखन के क्षेत्र में एक नई संभावना को उजागर किया है। साथ ही अभावग्रस्त परिवारों की छोटी-छोटी बातों में निहित बड़ी-बड़ी खुशियों को इस उपन्यास में जिस कलात्मक चतुराई से दर्ज़ किया गया है, वह अद्‌भुत है और जीवन में अभावों को अँगूठा दिखाने का एक तरीका यह भी हो सकता है। इनकी छोटी छोटी खिड़कियों में सचमुच सुख व ऐश्वर्य का सातवाँ आसमाँ झाँक रहा है।

हिन्दी अधिकारी
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

संदर्भ -

1. *शुक्ल विनोद कुमार, दीवार में एक खिड़की रहती थी, उपन्यास में पहले एक कविता रहती थी।*
2. *राय गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ संख्या 459 ।*
3. *वही।*
4. *अग्रवाल महावीर (सम्पादक), सापेक्ष-51, पृष्ठ संख्या 242 ।*

5. *वर्मा रामचन्द्र, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृष्ठ संख्या 239।*
6. *खरे विष्णु, अनुकथन, दीवार में एक खिड़की रहती थी, पृष्ठ संख्या 167।*
7. *वाजपेयी अशोक (सम्पादक), बहुवचन-4, पृष्ठ क्र. 316।*
8. *वर्मा रामचन्द्र, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृष्ठ संख्या 239।*
9. *शुक्ल विनोद कुमार, दीवार में एक खिड़की रहती थी, पृष्ठ सं. 36।*
10. *वही, पृष्ठ सं. 82।*
11. *वही, पृष्ठ सं. 108।*
12. *वाजपेयी अशोक (सम्पादक), बहुवचन- 4, पृष्ठ क्र. 314।*

शब्द बोलते हैं

मधुकर चौधरी

किसी ने सच ही कहा है कि केवल सफेद कागज पर लिखे काले अक्षरों भर को जान लेने से ही उनका अर्थ नहीं समझा जा सकता। अर्थ जानने के लिए आवश्यक है सफेद कागज पर सफेद स्याही से लिखे अक्षरों को पढ़ना। इन्हीं अक्षरों से बनते हैं शब्द। शब्द अपने अर्थ स्वयं गढ़ते हैं। प्रत्येक शब्द के सृजन एवं उनके द्वारा निरूपित अर्थ के पीछे एक रहस्य होता है। इसी धारणा के आधार पर एक दार्शनिक, योगी एवं लेखक श्री रामस्वरूप जी ने अपनी अँग्रेजी पुस्तक ''वर्ड एज रेविलेशन : नेम्स ऑव गॉड्स'' में देवताओं के नामों के पीछे के रहस्य को उद्घाटित करने का सार्थक प्रयास किया है। प्रो. रामेश्वर प्रसाद मिश्र ने इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद किया है या यूँ कहें कि हिन्दी में इसकी पुनर्रचना की है। यह अनुवाद ''शब्द, जो उद्घाटित करते हैं रहस्य दैवीय नामों के'' नामक शीर्षक से प्रकाशित है।

अनुवादक प्रो. मिश्र भी दार्शनिक हैं, इतिहासवेत्ता हैं, समाजविज्ञानी हैं, साहित्यकार हैं। इसकी झलक इस अनूदित पुस्तक में दिखलाई पड़ती है। पुस्तक की विषयवस्तु लगभग चौदह अध्यायों में विभाजित है, जिसके एक से लेकर आठ अध्यायों में वाक् ध्वनियाँ, धातुयें, समानार्थक शब्द, अर्थों का बहुआयामी स्तर, शब्दों का उच्चतर अर्थ, उनके गुह्य आवास, उनकी गोपनीय कुंजी, इत्यादि का सोदाहरण विमर्श है तथा शेष अध्यायों में देवताओं के नामों की विविधता, उनके गुण-लक्षण, उनकी रूपांतरणकारी शक्तियों का बहुत ही सुन्दर तरीके से किन्तु सुबोध भाषा में विवेचन-विश्लेषण किया है। लगता नहीं कि यह पुस्तक अनूदित पुस्तक है।

पुस्तक के शीर्षक को पढ़कर लगता है जैसे यह पुस्तक व्याकरण से सम्बन्धित है, लेकिन जब शीर्षक शब्द के नीचे की पंक्ति को पढ़ा जाता है तब सारा भेद खुल जाता है। अर्थात् एक स्पष्ट अर्थ सामने आ जाता है। वह अर्थ होता है - 'दैवीय नामों के रहस्य को उद्घाटित करने वाले शब्द'। तभी दिमाग में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसे कौन से शब्द होते हैं जो दैवीय नामों के रहस्य को उद्घाटित करते हैं?... बस, यहाँ उत्पन्न होती है जिज्ञासा, पढ़ने की ललक। सारांशतः यह शीर्षक जिज्ञासा उत्पन्न करने वाला शीर्षक है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रतिपाद्य भाषा अथवा भाषा विज्ञान का अध्ययन प्रस्तुत करना नहीं है बल्कि नामों और उनके उच्चतर अर्थों पर, शब्दावली के स्वरूप पर विमर्श प्रस्तुत करना है। पुस्तक में ध्वनियों के स्वरूप-प्रकार, उनकी उपादेयता, ध्वनिसिद्धान्तों का निरूपण[1] आदि के विषय में प्रकाश डाला गया है। नई वस्तुओं और नये विचारों के नामकरण की प्रक्रिया[2] के साथ साथ धातुओं का स्वरूप एवं भाषा से उसका सम्बन्ध[3], समानार्थक शब्दों की रचना प्रक्रिया उनका जीवनानुभूतियों से सम्बन्ध[4], अर्थों के विभिन्न स्तर, अर्थो के विविध रूप, अर्थों और विचारों का पारस्परिक सम्बन्ध, अर्थों और विचारों की अन्तर्निहित एकता[5] आदि विषयों की एक शृंखला प्रस्तुत करके लेखक ने न केवल अपने विस्तृत अध्ययन का साक्ष्य प्रस्तुत किया है बल्कि पाठकों के समक्ष सहज संदर्भ के लिए एक दस्तावेज प्रस्तुत किया है। लेखक ने किसी भाषा को समझने के दो मार्ग बताये हैं: पहला, जगत और उसके पदार्थों की दृष्टि से भाषा को देखना; और दूसरा, चेतना और बुद्धि की दृष्टि से भाषा को देखना[6]। शब्द और अन्तर्मुखता का स्तर, चेतना का स्तर, काम-भूमि, ध्यान-भूमि इत्यादि भूमियाँ और शुद्धता का स्तर[7], गहरे अर्थों को व्यक्त करने का शब्दों का सामर्थ्य, शब्दों के उच्चतर अर्थ रहते कहाँ हैं? उनके अर्थों को कैसे खोला जाता है? रहस्वादी परम्परा में इनका जवाब, भारतीय चिंतन में शब्दों का अध्ययन दो दृष्टियों से - पहला शब्दों के रूप में दूसरा अर्थ के रूप में, उच्चतर अर्थो को जानने के लिये ध्यान-धारणा, साधना का उपयोग[8] आदि प्रश्नों के उत्तर लेखक ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से दिए हैं। इस प्रकार अध्याय एक से लेकर आठ तक लेखक का दृष्टिकोण कुछ-कुछ भाषाविज्ञानी-सा प्रतीत होता है। अध्याय नवें से लेकर चौदह तक लेखक ने चेतना धारा को हिन्दु चिंतन की ओर मोड़ा है।

हिन्दू धार्मिक चिन्तन में वैदिक अभिव्यक्तियों की मीमांसा, स्मृतियों को जगाने में वैदिक देवताओं का सहयोग, ईसाई समाज में व्याप्त एवं मान्य एकेश्वरवादी अवधारणा, वेदों की गूढ़ता का स्वरूप एवं अर्थ[9], पृथ्वी के विविध नाम तथा अर्थ, सूर्य के विविध नाम तथा अर्थ, अग्नि देव के विविध नाम तथा मान्यता, महिमामय इंद्र के विविध नाम तथा रूप[10] आदि के रास्ते लेखक पाठकों को उस दुनिया की सैर कराना चाहता है जो गूढ़ है... सत्य है... शाश्वत और अनन्त है।

कई ज्ञानी, ऋषि, महात्मा आदि इन विषयों पर चर्चा करते आये हैं परन्तु यह पहला अवसर है जब किसी महात्मा ने भाषाविज्ञान या शब्दों के रास्ते उस दुनिया में प्रवेश कराया है। यह इस सत्य को दर्शाता है कि सभी विषय, ज्ञान की समस्त धारायें एक ही महासागर में मिलती हैं भले ही उसे लोग अलग अलग नामों से जानते हों। उस परमसत्ता के वर्गीकृत ढाँचे को समझने में बुद्धि को तमाम मुश्किलों का सामना करना होता है। क्या बुद्धि से परमसत्ता को समझा जा सकता है? वैदिक दृष्टि और सर्वव्यापी परमसत्ता क्या है? क्या संख्या के बल

पर अनन्त को जाना जा सकता है? इन और ऐसे कई प्रश्नों के उत्तर इस पुस्तक में दिये गये हैं। ईश्वरत्व के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टि, वैदिक दृष्टि और ईसाई दृष्टि में साम्यता-असाम्यता, ईश्वर एक है, मजहब अनेक हैं इसकी स्वीकार्यता, गॉड और शैतान को लेकर चर्च की परेशानी, विपुलता और वैविध्यता का अर्थभेद लेखक ने बहुत ही सहज ढंग से समझाया है। परमसत्ता के विषय में बात करते समय लेखक सभी धर्मों से समान रूप से उदाहरण देते हैं। सभी धर्मों के ईश्वर को भक्ति, श्रद्धा, आस्था और तप प्रिय हैं। ईश्वर कहीं और नहीं बल्कि हमारे अन्तः में स्थित है। जागृत आत्मा में ही जागृत देवता की उपस्थिति का आभास होता है। इसलिए देवपूजा को प्रदर्शन की नहीं बल्कि अन्तःकरण की वस्तु माना गया है। हिन्दू ही नहीं बौद्ध और जैन दर्शन में भी देवताओं की बहुलता है। एकदेव और बहुदेव एक ही हैं इसलिये आराध्यों का झगड़ा निरर्थक है।[11]

पुस्तक का बारहवाँ अध्याय न केवल वैदिक काल के पश्चात देवताओं और आराध्यों के नाम, संगीतमय नाम और संकीर्तनों के बारे में बताता है बल्कि सहस्त्रनामावलियों को साक्ष्य रूप में प्रस्तुत करके विष्णु, शिव, सूर्य, गंगा आदि सभी देवताओं के एक ही और सर्वगुण सम्पन्न होने की उद्‌घोषणा करता है।[12] 'देवताओं के नाम : उनके गुण लक्षण' नामक अध्याय में धर्म भूमि में देवताओं के विभिन्न रूपों का वर्णन, देवताओं को जानने का प्रयास फिर भी उनका अज्ञेय बने रहना, ईश्वर के अनंत नामों में चेतना का विराट रूप, ईश्वर के नाम लक्षणों में गहरी आंतरिक एकता, ईश्वर का सौम्य और रौद्र रूप, अज्ञेय, लोकोत्तर, ज्ञानातीत रूप आदि पर प्रकाश डाला गया है।[13] रूपांतरकारी ईश्वरीय नाम, ध्यान के विविध फल, जीवन में देवताओं की वापसी हेतु आवाहन करने का आग्रह इत्यादि[14] का साधार विवेचन अनुवादक ने बखूबी किया है।

पुस्तक की भाषा सम्प्रेषणीय और प्रवाहमयी है। मुद्‌दों का विमर्श रोचक है। मुद्‌दों को स्पष्ट करने हेतु पर्याप्त उदाहरण भी दिये गये हैं। व्याकरण जैसे रुक्ष अध्यात्म जैसे गूढ़ अध्यायों को बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया गया है। अनेक अध्यायों में लेखक का दार्शनिक, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक ज्ञान भी दृष्टिगोचर होता है जिससे अनुवादक की लेखकीय ऊँचाई का भी पता चलता है।

भूमिका में लेखक ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुये अपने गुरु मूल लेखक के प्रति कृतज्ञता भी प्रकट की है जिससे शिष्य के रूप में उनका कद और भी ऊँचा हुआ है। कहना न होगा कि उन्होंने 'गुरु से चेला सवाई' की कहावत को चरितार्थ कर दिया है।

सहायक कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

संदर्भ -

1. अध्याय प्रथम - 'वाक ध्वनियाँ'
2. अध्याय दूसरा - 'नई वस्तुओं के नामकरण की प्रक्रिया'
3. अध्याय तीसरा - 'धातुयें'
4. अध्याय चौथा - 'समानार्थक शब्द'
5. अध्याय पाँचवाँ - 'अर्थो के बहुआयामी स्तर और उनमें अन्तर्निहित एकता'
6. अध्याय छठवाँ - 'अतःकरण : बुद्धि का आंतरिक अवयव'
7. अध्याय सातवाँ - 'भूमियाँ : शुद्धता के स्तर')
8. अध्याय आठवाँ - 'उच्चतर अर्थ : उनके गुहय आवास और उनकी गोपनीय कुंजी'
9. अध्याय नवाँ - 'वैदिक देवता : मूर्त प्रतिमायें'
10. अध्याय दसवाँ - 'देवताओं के नाम : वैदिक'
11. अध्याय ग्यारहवाँ - वैदिक देवता : एक परमेश्वर : अनेक देवता : अद्वैत'
12. अध्याय बारहवाँ - 'देवताओं के नाम : वैदिक काल के पश्चात'
13. अध्याय तेरहवाँ - देवताओं के नाम : उनके गुण लक्षण'
14. अध्याय चौदहवाँ : 'देवताओं के नाम : उनकी रूपांतरणकारी शक्तियाँ'

कुछ ख़्वाब, कुछ हक़ीक़त

अनुवाद - अभिषेक सक्सेना 'ऋषि'

(प्रस्तुत गद्यांश सर हरीसिंह गौर द्वारा विभिन्न विषयों पर लिखे गये आलेखों से लिये गये हैं। ये गद्यांश एक झरोखा है जिनसे हम उस महापुरुष के जीवन-दर्शन और देश एवं विश्व के प्रति उनकी चिंता की एक झलक पा सकते हैं।)

●●●

कोई भी सच्चा राष्ट्रभक्त अपने अतीत से नाता नहीं तोड़ सकता और न ही वह इतना विज्ञ होता है कि अपने लोगों को उनकी कमियाँ गिना सके । इतिहास ऐसे तथ्यों पर अक्सर पर्दा डाल देता है जिन्हें हम कभी नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। नये युग का सूत्रपात करने वाले महापुरुष हर तरफ नज़र रखते हैं। वे न तो गंभीर भाषणों और भावनात्मक गीतों से किसी ढुलमुल संरचना की तारीफ करते हैं और न ही नयी बोतलों में पुरानी शराब भरने का प्रयास करते हैं। किसी भी नयी परम्परा के उद्‌भव और विकास के लिए नयी चेतना और शुद्ध मन की आवश्यकता होती है। ज्ञान और बुद्धि को सहज रूप से साथ-साथ आने देना चाहिए क्योंकि बुद्धिरहित ज्ञान एक टिमटिमाता हुआ 'प्रतीक' मात्र रह जाता है। ज्ञान अर्जित करना तो सरल है परन्तु बुद्धि के लिये बौद्धिक साहस की आवश्यकता होती ही है। इसके लिये एक ऐसे मन की आवश्यकता होती है जो शुद्ध और निर्मल हो, जिसमें पूर्वाग्रह न हों, जो पूर्व अधिकारों और आदतों से पूर्णतया मुक्त हो। आज भारत बौद्धिक और नैतिक पुनर्जागरण की चौखट पर खड़ा है। लेकिन जब तक हम धर्म को अपने सिरों पर ढोते रहेंगे तब तक हम बौद्धिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो सकते और बौद्धिक स्वतंत्रता के बिना राजनैतिक स्वतंत्रता की बात करना सर्वथा बेमानी है।

द ट्रेजडी ऑव इंडिया

●●●

कुछ धर्मों ने जीवन को अच्छे और बुरे की तराजू में तौलकर उसे बुराई की ओर धकेल दिया है परन्तु जीवन को बुराइयों का समाहार न समझकर एक हादसा समझें तो बेहतर होगा। जीवन को बुराई कहने के पीछे उनके अपने तर्क हैं। उनका मानना है कि जीवन निश्चित

है, इसमें सफलता, असफलता, बीमारी और मृत्यु सबकुछ है इसलिए यह एक बुराई है। इन्हीं मान्यताओं की दुहाई देकर धर्म के ठेकेदार मनुष्य को संसार और स्वर्ग में सब कुछ दिलाने का प्रलोभन देकर चिन्ता मुक्त करते रहते हैं। वस्तुतः जीवन का आनन्द न केवल आत्म-संरक्षण रूपी प्राथमिक शक्ति पर निर्भर करता है बल्कि मतों, विश्वासों, आदतों, बच्चों एवं अपेक्षाकृत कमजोरों को दिये जा रहे संस्कारों के साथ साथ प्रौढ़ व्यक्तियों की सुग्राह्य मेधा पर भी निर्भर करता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, जीवन को बुराईयों का समाहार कहा जाता है क्योंकि यह दो दिन का होता है, फिर भी कितने हैं जो अपने देश के सम्मान की ख़ातिर अपने जीवन को कुर्बान कर देते हैं। देश की सेवा में कितना आनन्द मिलता है इस बात का बयान तो वे नायक ही कर सकते हैं जिन्होंने देश की ख़ातिर युद्ध लड़े हैं। बातों के कोलाहल और विचारों के विभ्रम में हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्य इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही नैतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से विकास करता आया है और यह भी कि आज के चर्चित चेहरे वे हैं जिन्होंने उन्नति का मार्ग चुना। उन्होंने अपने-अपने कार्यक्षेत्र में अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया। एक लम्बे अरसे से स्थिर और शिथिल पड़ी आ रही भारतीय मेधा को भी इस ऊर्जाप्रवाह का हिस्सा बनना होगा। हम भारतीयों के लिए तो यह अतिरिक्त आनन्द का विषय होगा। वह आनन्द जो निरन्तर अभ्यास से मिलता है... वह अभ्यास जिसमें मीठा दर्द समाहित है। मनुष्य द्वारा किए गये तमाम शोध और आविष्कार उसके तप और त्याग का ही परिणाम है, जिससे न केवल आविष्कारक को मानसिक सुकून मिला बल्कि ऐसी चीजों से रूबरू होने का सुख भी मिला जिसके बारे में आम जनता जानती भी नहीं।

द प्लेजर ऑव लाइफ

●●●

आज विश्व के समक्ष शान्ति और सुरक्षा की समस्या सुरसा की तरह मुँह बाये खड़ी है। इस समस्या का समाधान तभी सम्भव है जब लोगों का मन शुद्ध हो और उन्हें यह भान हो कि सही क्या है?- गलत क्या है?- वास्तविक ज्ञान क्या है? यदि कोई आदमी चांद से उतरकर धरती पर आये तो वह पायेगा कि जीवन की सीधी-सपाट सच्चाई में कितनी चौंकाने वाली जटिलतायें और विविधतायें हैं। वह इन जटिलताओं का समाधान खोजने की असफल कोशिश भी करेगा। असफल क्यों? क्योंकि खोजे हुए समाधानों को वे लोग स्वीकार ही नहीं करेंगे जिन्हें आप बदले हुये समय के साथ बदलना चाहते हैं। इसलिये यदि हम संसार में शान्ति और सुरक्षा (निश्चित रूप से सम्पन्नता और उन्नति नहीं) स्थापित करना चाहते हैं तो हमें मानसिक रूप से बदलना होगा। यह परिवर्तन न केवल मनोवैज्ञानिक बल्कि सार्वभौमिक भी होना चाहिये। सम्पूर्ण विश्व के बौद्धिक सिद्धान्तकारों ने इस तथ्य को समझा है और जीवन जीने का एक सच्चा और सहज स्वीकार्य मार्ग बताकर धार्मिक विवाद खड़ा करने और सामाजिक रूढ़ियों

की वकालत करने वाले मठाधीशों, मुल्ला-मौलवियों की ताकत को कम करने का प्रयास किया है। हालाँकि वे ऐसा करने में असफल रहे क्योंकि उनके द्वारा सुझाये गये उपाय इतने सतही और समझौतापरक थे कि वे इंसान की ग्रहणशीलता की परत को भी नहीं भेद पाये। परन्तु इस कारण इनके महत्त्व को कम करके नहीं आँका जा सकता क्योंकि हम अनजाने में... अलक्षित रूप से ही सही आदर्श मानव जीवन की प्रतिमा इसी सत्य और प्रगतिशील विज्ञान के अनुरूप गढ़ते हैं।

हमें शाश्वत सत्य को चाहने... उससे प्रेम करने की शिक्षा देने वाले सनातन ज्ञान की आवश्यकता है। जबतक छात्र अपने सदियों पुराने दिमागी घोड़ों को मुक्त नहीं करते, उन पर चढ़ी समय, वंशपरम्परा, पुरानी आदतों और रूढ़ियों की गर्द को साफ नहीं करते तबतक किसी भी प्रकार के सुधार की कल्पना नहीं की जा सकती। इस सुधार की दिशा में जो पहला वांछित कदम है... वह है मन को शुद्ध करना ताकि हर बच्चा और युवा चीज़ों पर भरोसा करना प्रारम्भ कर दे... उन्हें अपने पूर्वकल्पित विचारों से श्रेष्ठ समझना प्रारम्भ कर दे। जीवन-पहेली सुलझाने का यह प्रथम प्रयास होगा और यह प्रयास तब तक जारी रहेगा जबतक इसे जीवन से समूल समाप्त करने की दिशा में कोई सार्थक प्रयास नहीं किया जाता।

दि रिडिल ऑव लाइफ

●●●

आज विश्व को ऐसे चरित्रवान मनुष्यों की आवश्यकता है जो अपना उदाहरण प्रस्तुत करके जीवन में एक नई राह का निर्माण करें और मनुष्यों के बीच अपना अस्तित्व बनाये रखने का एक उत्तम और अपेक्षाकृत खुशहाल तरीका प्रस्तुत कर सकें। इस तथ्य को राजनीति, अर्थशास्त्र एवं अन्य प्रतिकारी शक्तियों के परिपेक्ष्य में समझा जा सकता है। चरित्रवान मनुष्य का उदय एक ऐसी परिकल्पना है जिसे सहज ही पूर्ण किया जा सकता है। परन्तु वह समय अभी आया नहीं है। चरित्र मात्र एक गुण नहीं बल्कि समाज और मनुष्य की आर्थिक एवं राजनैतिक उन्नति के लिए व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय आवश्यकता है। यह एक आध्यात्मिक शक्ति है जो मनुष्य को धरती से उठाकर वैश्विक जीवन स्तर तक पहुँचाने के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी गतिविधियों को निश्चित रूप से मार्गदर्शित और नियंत्रित करेगी।

ऑव कैरेक्टर

हिन्दी अनुवादक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम

प्रस्तुति - विनोद रजक

विश्वविद्यालय को वर्ष 2009 में केन्द्रीय दर्जा प्राप्त होने के साथ ही राजभाषा प्रकोष्ठ अस्तित्व में आया। अपने शैशवकाल में ही इसे कुलपति प्रो. एन. एस. गजभिये एवं कुलसचिव प्रो. एन. के. जैन का मार्गदर्शन मिला। प्रो. सुरेश आचार्य, श्री संतोष सोहगौरा, श्री राजरूप निगम, श्री विवेक विसारिया एवं श्री सतीश सरल ने समय-समय पर इसे पुष्पित-पल्लवित करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

प्रारम्भिक वर्षों में अपनी स्थापना सम्बन्धी कार्रवाई एवं न्यूनतम आवश्यक पदों पर नियुक्तियों के बाद राजभाषा प्रकोष्ठ की गतिविधियों में तेजी आयी। इस क्रम में वर्ष 2012-13 राजभाषा प्रकोष्ठ के लिए उपलब्धियों भरा रहा। इस अवधि के दौरान विश्वविद्यालय को राजभाषा नियम 1976 के नियम 10 के उपनियम 4 के अन्तर्गत अधिसूचित किया गया अर्थात भारत सरकार द्वारा यह प्रमाणित किया गया कि विश्वविद्यालय के 80 प्रतिशत कर्मचारियों ने हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार अधिसूचित होने से विश्वविद्यालय की एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय के रूप में प्रतिष्ठा तो बढ़ी ही साथ ही हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए विश्वविद्यालय की जिम्मेदारियाँ भी बढ़ीं।

इस दिशा में विश्वविद्यालय में प्रयोग की जाने वाली समस्त रबर की मुहरों एवं पत्रशीर्षों के द्विभाषीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ की गयी। अद्यतन यह कार्य लगभग 80 प्रतिशत पूर्ण हो चुका है। प्रामाणिक तिमाही प्रगति रिर्पोट तैयार करने हेतु एक व्यवस्थित प्रणाली का विकास और कर्मचारियों को केन्द्रीय हिन्दी प्रशिक्षण संस्थान, राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार से प्रशिक्षित कराने हेतु कार्रवाई आदि भी प्रमुख कार्यों में सम्मिलित है।

राजभाषा प्रकोष्ठ विश्वविद्यालय के कर्मचारियों को हिन्दी में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करने लिए नियमित रूप से कार्यशलाओं का आयोजन करता है। इस शृंखला में दिनाँक 04 जुलाई, 2012 को 'कार्यालयीन कामकाज में हिन्दी की आवश्यकता' विषय पर तथा दिनाँक 22.03.2013 को 'कम्प्यूटर में हिन्दी का प्रयोग' विषय पर कार्यशालाएँ आयोजित की गयीं।

इस वर्ष राजभाषा के वार्षिक अनुष्ठान हिन्दी दिवस को विशेष उल्लास के साथ मनाया गया। 13 एवं 14 सितम्बर, 2012 को आयोजित इस दो दिवसीय समारोह में पुस्तक प्रदर्शनी, पुस्तक विमोचन, ''तकनीकी विषयों में हिन्दी का प्रयोग'' विषय पर उच्चतर शिक्षा विभाग, भोपाल से पधारे प्रो. के.एम. जैन का व्याख्यान, युवा कवि रवीन्द्र स्वप्निल प्रजापति का काव्य पाठ आदि विशेष आकर्षण रहे। कार्यक्रम में न केवल अधिकारियों, शिक्षकों व कर्मचारियों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया बल्कि छात्र-छात्राओं ने भी पूर्ण मनोयोग से कार्यक्रम को सफल बनाने में सहयोग प्रदान किया।

इन विशेष अवसरों के अतिरिक्त राजभाषा प्रकोष्ठ ने विभिन्न विभागों/अनुभागों की अनुवाद से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान किया। इस सम्बन्ध में संसद में प्रस्तुत होने वाली वार्षिक लेखा रिर्पोट, विश्वविद्यालय के वार्षिक प्रतिवेदन तथा प्रवेश विवरणिका को द्विभाषी किया गया। राजभाषा प्रकोष्ठ कर्मचारियों में सकारात्मक विचारों के पल्लवन एवं उनके हिन्दी शब्दों के ज्ञान को बढ़ाने के लिए प्रशासनिक भवन के दोनों प्रवेश द्वारों पर 'आज का विचार' एवं 'आज का शब्द' उपलब्ध कराता है। विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों में हिन्दी के प्रयोग के सम्बन्ध में सहयोग देने एवं उनकी समस्याओं के निदान के लिए राजभाषा प्रकोष्ठ नियमित रूप से विभागों का दौरा भी करता है।

आपके समक्ष हिन्दी पत्रिका 'भाषा भारती' का यह प्रवेशांक प्रस्तुत करते हुए हमें संतुष्टि का अनुभव हो रहा है। प्रकाशन की अगली कड़ी में राजभाषा प्रकोष्ठ विशेष कार्य के तौर पर शीघ्र ही दूरभाष निर्देशिका का प्रकाशन भी करने जा रहा है।

हिन्दी टंकक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

परिशिष्ट

कुछ ऐतिहासिक तथ्य हिन्दी के बारे में

1. नागरी का टाइप सबसे पहले यूरोप में बना। सन् 1716 में एमस्टरडम में प्रकाशित *चाईना इलेस्ट्रेता* पुस्तक में नागरी के कुछ अक्षर पहली बार छापे गए।
2. हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र 'उदंत मार्तण्ड' 30 मई, 1826 को कलकत्ता से निकला जो एक साल छः महीने चलकर 11 दिसम्बर, 1827 को बन्द हो गया।
3. भारत में पहली बार बंगाल में जान गिलक्राइस्ट ने 1796 ई. में देवनागरी लिपि में अमीर खुसरो की एक मुकरी प्रकाशित की तथा हिन्दी में बाइबिल प्रथम बार चार्ल्स विल्किन्स और पंचानन कर्मकार ने हुगली और श्री रामपुर में 18 वीं शताब्दी में छापा।
4. हिन्दी प्रदेशों से छपने वाला हिन्दी का पहला अखबार 'बनारस अखबार' सन् 1845 में काशी से छपा था, इसका प्रकाशन राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने शुरू किया था। इसके संपादक पण्डित गोविन्द रघुनाथ धंते थे। इस अखबार की भाषा उर्दू मिश्रित हिन्दी तथा लिपि देवनागरी थी।
5. हिन्दी का प्रथम व्याकरण 'डच' भाषा में हालैण्ड निवासी श्री जानजेशुआ केटेलर ने 'हिन्दुस्तानी भाषा' शीर्षक से सन् 1685 में लिखा था।
6. भारत में पहला विश्व हिन्दी सम्मेलन नागपुर में 10 से 14 जनवरी, 1975 को सम्पन्न हुआ।
7. हिन्दी भाषी क्षेत्र से निकलने वाला पहला हिन्दी दैनिक 'हिन्दोस्तान' है जो सन् 1885 में प्रतापगढ़ कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह ने निकाला और इसके सम्पादक पण्डित मदन मोहन मालवीय थे।
8. पहली बार दृष्टिहीनों के लिए हिन्दी ब्रेल आशुलिपि जुलाई, 1981 में दृष्टिबाधिता राष्ट्रीय संस्थान, देहरादून ने तैयार की और उसे ब्रेल विशषज्ञों तथा भाषाविदों द्वारा स्वीकृति दी गई।